एक महात्मा का प्रसाद

स्वामी शरणानन्दजी महाराज

www.swamisharnanandji.org

Swami Shuddhananda Giriji On Ek Mahatma Ka Prasad

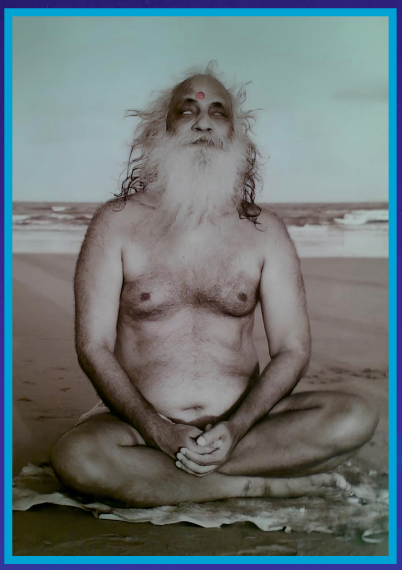

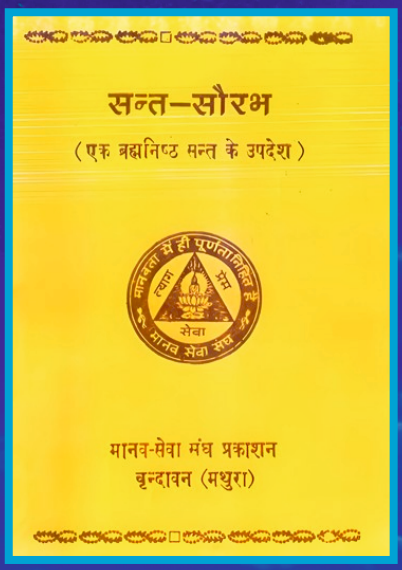

प्रस्तुत पुस्तक 'सन्त सौरभ' 'एक महात्मा का प्रसाद' का ही संशोधित रूप है। आज से लगभग 40 वर्ष पूर्व गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक से जिज्ञासु भलीभाँति परिचित ही हैं। - इस पुस्तक के प्राक्कथन से

।। श्रीहरिः ।।

एक महात्मा का प्रसाद

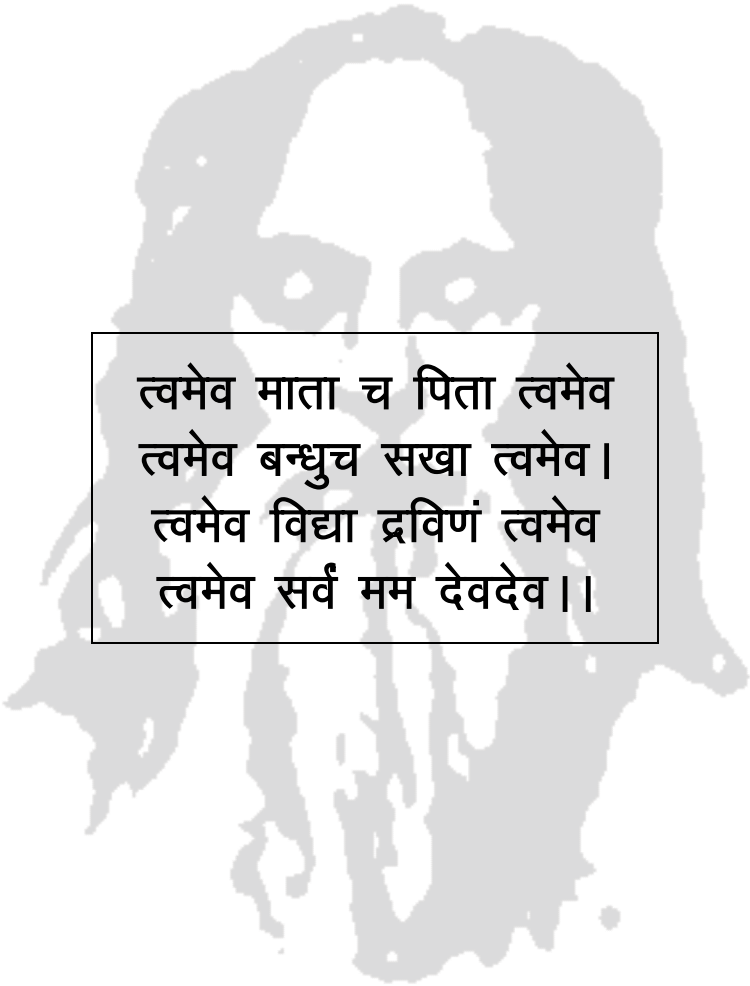

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुच सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

स्वामी शरणानन्दजी महाराज

‘एक महात्मा का प्रसाद’ की अकल्पनीय सिद्धियाँ

Gujarati pdf

Hindi pdf

English pdf

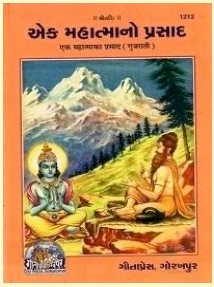

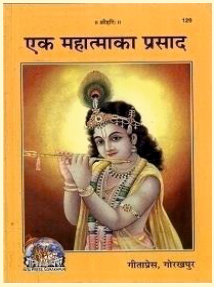

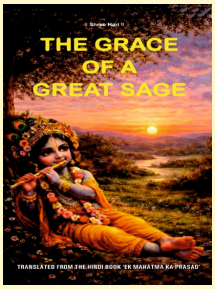

New Typed pdf

Youtube Link Part 1

Youtube Link Part 2

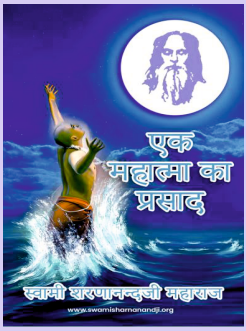

Audio Part 1

Audio Part 2

स्वामी शुद्धानंदगिरीजी

Video Link

Blog Link

क्या अब भी लाभ नहीं लोगे?

निवेदन

महात्माओंकी महिमा अवर्णनीय है, उनका संसारमें रहना और विचरना सहज लोक-कल्याणके लिये ही होता है। जैसे सूर्य सहज ही जीवमात्रको प्रकाश देता है, जैसे चन्द्रमा सहज ही समस्त जगत्‌में सुधाधारा बहाकर सबको शान्ति प्रदान करता है, वैसे ही महात्मागण (उनके सम्पर्कमें आनेवाले) सबके अज्ञानान्धकारका नाश करके विमल ज्ञानका प्रकाश प्रदान करते हैं और अपनी अमृतमयी वाणीसे सबको परम शान्ति देते हैं। महात्माओंका मिलन, उनका सत्संग, उनका वचन अमोघ होता है।

महात्माओंके संगका अर्थ उनके समीप रहना ही नहीं है; सच्चा संग है, उनके विचारोंको अपने जीवनमें उतारना—उनके कल्याणमय उपदेशोंके अनुसार जीवन बना लेना। जो मनुष्य महात्माओंके आदर्श उपदेशानुसार अपना स्वभाव और आचरण बना लेते हैं, वे ही महात्माओंके संगका यथार्थ लाभ उठा सकते हैं। महात्माओंके समीप रहकर राग-द्वेषका पोषण करना और उनके विचारोंका आदर न करके उनके नामपर प्रमाद करना वस्तुतः 'महात्मा'के संगका दुरुपयोग करना है। ऐसा करनेवाले महात्माओंके संगका महान् लाभ प्राप्त करनेसे वंचित रह जाते हैं।

सदा विनम्रभावसे महात्माकी सेवा करना—उनके वचनोंका आदर करके तदनुसार आचरण करना ही उनकी सच्ची सेवा है—अपने मनकी शंकाओंको मिटानेके लिये उनसे सरलभाव तथा सरल भाषामें प्रश्न करना, समझमें न आनेपर पुनः पूछना और उनके द्वारा समुचित समाधान हो जानेपर उनके बताये सन्मार्गपर चलना आरम्भ कर देना—ऐसा करनेवालोंको महात्माके संगका यथार्थ लाभ तुरन्त मिल जाता है। फिर उनका जीवन पलटते देर नहीं लगती।

मेरे एक सम्मान्य बन्धु सत्संगकी सच्ची भावनासे एक महात्माके पास गये थे। वहाँ वे उनके पास विनम्रभावसे रहते तथा अपने एवं दूसरे सज्जनोंके द्वारा किये हुए प्रश्नोंके उत्तररूपमें और प्रवचनरूपमें महात्माजीके श्रीमुखसे जो कुछ सुनते थे, उनको लिखते जाते थे। लिखकर महात्माजीको सुना देते थे, कहीं कुछ भूल रही होती तो उसे महात्माजीके आदेशानुसार सुधार देते थे। महात्माजीके उन्हीं मंगलमय उपदेशोंका संग्रह 'एक महात्माका प्रसाद'के रूपमें पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जा रहा है। मेरा विश्वास है कि इसको मन लगाकर पढ़ने और तदनुसार जीवन बनानेका प्रयत्न करनेसे महान् लाभ होगा। मेरे अपने उन बन्धुके स्वभावमें अभूतपूर्व परिवर्तन देखनेपर तो मेरी यह धारणा और भी दृढ़ तथा सुनिश्चित हो जाती है। मेरी प्रार्थना है कि पाठक इस छोटी-सी कल्याणमयी पुस्तकसे सच्चा लाभ उठावें।

गंगा-तट, ऋषिकेश — **हनुमानप्रसाद पोद्दार**

आषाढ़ शुक्ल ११। २०१३ वि० — 'कल्याण'-सम्पादक

॥ श्रीहरिः ॥

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ-संख्या
(प्रथम भाग)	
१-निरन्तर साधनका स्वरूप	11
२-चित्त-शुद्धिका उपाय	11
३-साधनोपयोगी सिद्धान्त	13
४-भावकी शुद्धिसे कर्मकी शुद्धि	14
५-अपने दोषोंको देखने और मिटानेकी युक्ति	15
६-भगवत्प्रेमकी प्राप्तिका उपाय	16
७-अहंता, ममता और कामनाका स्वरूप तथा उनके नाशका उपाय एवं प्रेमकी अभिव्यक्ति	17
८-योग, बोध और प्रेम क्रियासाध्य नहीं हैं। विवेकका आदर ही इनकी प्राप्तिका उपाय है	20
'' नामजप और स्मरणका भेद तथा प्रेमका महत्त्व	
९-सुख-दुःखका कारण किसी वस्तु या प्राणीको न मानना राग-द्वेषके नाशका उपाय है। इस विषयमें हितकर मान्यताका वर्णन	23
१०-परदोष-दर्शनका और दोषोंके चिन्तनका सर्वथा त्याग करके निर्दोषता प्राप्त करनेकी प्रेरणा	26
११-साधनमें दूसरा बाधा नहीं डाल सकता	27
'' अपना प्रमाद ही साधनमें बाधक है उसका त्याग	
'' दूसरोंकी आलोचनाका त्याग तथा संसार और शरीरसे अपनताका त्याग करके एकमात्र भगवान्‌को ही विश्वासपूर्वक अपना माननेकी प्रेरणा	
'' गोपियोंके चरित्रसे शिक्षा प्राप्त करना तथा कर्म करनेका तरीका	
'' अपने दोषोंको देखने और मिटानेका तरीका	
१२-प्रवृत्ति-निवृत्तिका सदुपयोग और कर्म करनेकी आसक्तिका त्याग	33
१३-कर्मकी शुद्धिके लिये भाव और संकल्पकी शुद्धि आवश्यक	36
'' विश्वास, सम्बन्ध, प्रियता ही स्मरण-चिन्तनमें हेतु है अतः इनको भगवान्‌में लगाना चाहिये	
'' सत्पुरुषोंके संगका और उसकी लालसाका महत्त्व	
'' भगवान्‌की लीलाका रहस्य	

विषय	पृष्ठ-संख्या
१४- सुखभोगकी इच्छाओंके नाशका उपाय-विचार और प्रेम	40
,, स्वरूपसे जीव और ईश्वर दोनों ही प्रेमी हैं भोगी नहीं	
१५- अपनी उन्नति या प्रसन्नताका हेतु किसी अन्यको न मानना	42
,, भगवान्‌से प्रार्थनाका स्वरूप और भगवान्‌की महिमा	
१६- विवेक, विश्वास और प्रेमके आदर और सदुपयोगका वर्णन	45
१७- मनुष्य-शरीरकी महिमा तथा भगवान्‌के साथ एकताका वर्णन	48
१८- मान्यताके अनुसार कर्तव्य-पालनके द्वारा मान्यतासे असंग होनेका प्रकार तथा अभिमानसे हानि	51
,, मिले हुएके सदुपयोगसे और अप्राप्तकी कामनाके त्यागसे वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति	
१९- पशु-पक्षी आदिसे मनुष्य-शरीरकी विशेषता	54
,, दूसरोंका हित करनेमें अभिमानका त्याग और उसपर डाक-पिउनका उदाहरण, व्यवहारमें क्या भाव रखना चाहिये	
,, चाहके दो भेद; भगवान्‌के प्रेमकी चाहका महत्त्व	
२०- गुणोंके अभिमानसे हानि और उसके त्यागका महत्त्व	57
२१- प्रमाद, आलस्य और अकर्तव्यका तथा व्यर्थ चेष्टाका त्याग करके संयमपूर्वक कर्तव्यपरायणता	60
,, गुणके अभिमानसे गुण दोषमें बदल जाता है; जो लालच और भयसे रहित हो वही गुण वास्तविक होता है	
,, साधकको नेता, गुरु, प्रचारक, उपदेशक नहीं बनना चाहिये; अपने दोषोंका त्याग करनेके उद्देश्यसे परस्पर विचार-विनिमय करना अच्छा है	
,, 'साधन-निर्माणकी कसौटी' साधनमें प्रियता और नामजपका महत्त्व	
२२- साधनमें उत्साह और व्याकुलता दोनों रहना चाहिये	64
,, बुद्धि-बल आदिके सदुपयोगकी प्रक्रिया	
२३- स्वतन्त्र साधनके लिये प्रेरणा और उसका स्वरूप	66
२४- साधनमें रुचि और प्रवृत्ति स्वाभाविक होनी चाहिये; कर्तव्य-कर्मको भगवान्‌का काम समझकर करें—इसपर उदाहरण	68
,, साधनमें निष्कामभावकी आवश्यकता, परदोषदर्शनका त्याग, व्यवहारमें कैसी समता होनी चाहिये उसका वर्णन	

विषय		पृष्ठ-संख्या
२५-	माने हुए सम्बन्धका त्याग और प्रभुके साथ विश्वासपूर्वक सम्बन्ध जोड़ना; इसपर गोपियोंका उदाहरण	73
२६-	सबको अपना समझना या किसीको भी अपना न समझना	74
,,	क्षमाशील होना परम आवश्यक है; भगवान्‌की प्रकृतिसे भोगवासनाकी पूर्ति चाहना साधनमें विघ्न है; पतनका कारण प्रारब्ध नहीं है	
,,	उत्तम जीवनका चित्र	
२७-	दोषोंको छिपाना उनका पोषण करना है; दूसरेके दोष देखकर अपने दोषोंके दुःखको दबाना भूल है	78
,,	चित्तकी दशाका अध्ययन करनेकी विधि, सुधारका उपाय	
२८-	दोषोंके रहते हुए उनका दुःख न होनेका कारण	82
,,	चाहकी पूर्तिको सुख माननेसे अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति	
,,	मनुष्यकी वास्तविक माँग और उसकी पूर्तिका उपाय	
२९-	अपनी योग्यता और सामर्थ्यसे अधिक खर्च करना तथा मान-बड़ाई आदिके उद्देश्यसे खर्च करना असाधन है और प्राप्त योग्यता आदिका सदुपयोग न करना भी असाधन है	85
३०-	जीवनमें परिवर्तन न होनेका कारण सुख-दुःखके जालमें फँसे रहना है; सम्मिलित कुटुम्बमें हरेक खर्च घरवालोंकी सम्मतिसे करना चाहिये	87
,,	वस्तुकी आवश्यकताका त्याग, भगवान्‌का विश्वास और प्रेम	
३१-	करने और भोगनेकी आसक्ति और उसके नाशका उपाय	92
,,	प्रेमका तत्त्व समझानेके लिये किशोरीजीकी प्रेमलीलाका वर्णन	
३२-	शरीर और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदका उपाय; जानकारीके अनुसार जीवन और मान्यताके अनुसार कर्तव्य-पालन करना	97
,,	अपने अधिकारका त्याग और दूसरेके अधिकारकी रक्षा, 'शरीर मैं नहीं हूँ' यह ठीक-ठीक समझना आवश्यक	
३३-	सत्संग करनेकी रीति; उसके द्वारा साधन-निर्माण	101
,,	अपने विवेकका आदर; साधनमें निःसन्देहता	
३४-	राग-द्वेषका तथा व्यर्थ चिन्तन और चेष्टाका त्याग	104
,,	घटनाके अर्थको समझनेकी रीति; अपनी गलतीको देखें, दूसरोंकी ओर न देखें, वर्तमानके सदुपयोगकी रीति	

विषय	पृष्ठ-संख्या
'' संसारका सम्बन्ध प्रभु-प्रेममें बाधक है; हरेक कर्तव्य सही तरीकेसे पूरा करके राग-द्वेषसे रहित होना आवश्यक	
३५- संसारसे सम्बन्ध छोड़कर भगवान्‌को परमदयालु और पतित-पावन तथा अपनेको पतित जानकर भगवान्‌से सम्बन्ध स्वीकार कर लें	110
३६- मनके साथ बालकका-सा व्यवहार करना चाहिये; दोषोंको मिटानेकी और निर्दोषता स्थापन करनेकी युक्ति	112
'' भगवान्‌को प्राप्त करना कठिन नहीं है	
'' बुराईके बदलेमें भलाई करना ही साधुता है; क्रोधसे बड़ी हानि होती है	
३७- भगवान्‌की आवश्यकता सबको है, पर सुखभोगकी चाहके कारण वह दबी हुई है अतः चाहरहित होना जरूरी है	118
'' व्यापारका शुद्ध-स्वरूप नित्य आनन्दकी प्राप्तिका उपाय	
'' दरिद्रताका कारण लोभ है, उसे मिटानेका उपाय	
३८- प्रेमास्पदके मनमें मन मिला देना ही प्रेम-प्राप्तिका साधन है; व्यापक प्रेम ही वास्तवमें प्रेम है; प्रेमके स्वरूपका वर्णन	123
'' भावकी शुद्धि ही शुद्धि है, अतः हरेक क्रिया सर्व-हितकारी भावसे प्रभुकी प्रसन्नताके लिये करनी चाहिये	
३९- किसीका भी बुरा चाहते रहनेसे प्रेम समभावसे और असीम नहीं होता; 'बुरा चाहना क्या है' इसका स्पष्टीकरण तथा समभावसे असीम प्रेम-प्राप्तिका साधन	128
४०- शरीर-जाति-वर्ण-आश्रम-धन-सम्पत्ति आदिके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है उससे ही अच्छे-बुरे कर्म होते हैं; उसके त्यागके उपायका वर्णन; निष्काम भावका महत्त्व	133
४१- सबसे सम्बन्ध होनेका कारण; उसको तोड़नेका और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेका साधन; अधिकार-लालसाका त्याग	139
'' साधकको अपना साधन निर्माण करके उसमें तत्परतासे लग जाना चाहिये; अपने मनकी बात पूरी करनेमें शक्ति नहीं लगानी चाहिये	

(द्वितीय भाग)

विषय	पृष्ठ-संख्या
१- अपनी निर्बलता और भगवान्‌की महिमाके ज्ञानसे भगवान्‌में प्रेम और विश्वास होता है	145
२- भगवान्‌की कृपाका अनुभव	146
३- मनकी एकाग्रता	147
४- देहाभिमानरहित प्रेमी भक्तका आचरण	148
५- जीते हुए मर जानेका स्वरूप और भगवत्प्रेम-प्राप्तिका साधन	148
६- मृत्युसे डरनेका कारण तथा मृत्युकी महिमा	151
७- स्वाधीनता और पराधीनताका स्वरूप; भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति	152
८- मूर्त्तिपूजाका रहस्य तथा साधनका महत्त्व, अभिमानका सर्वथा त्याग, नामजपपर तुलसीदासजीका उदाहरण	153
९- प्रेम, मोह और आसक्तिका भेद	156
१०- निष्कामताका महत्त्व, लौकिक और पारलौकिक उन्नतिकी एकता	157
'' क्रिया और कर्मके स्वरूपका भेद तथा कर्मफल-प्राप्तिका कारण	
'' कुन्तीका सतीत्व और उसकी धर्मनिष्ठा तथा धर्मका स्वरूप	
११- स्वप्नका रहस्य, ईश्वरविश्वासका और विवेकका महत्त्व	162
१२- ईश्वरके प्रेमी भक्तमें सांसारिक कामनाका अभाव और भक्तिका स्वरूप, नामजप और स्मरणका भेद	165
मनुष्य क्या करनेमें स्वतन्त्र है? इसका उत्तर और साधकका कर्तव्य	
'' गुरुतत्त्वका विवेचन और शिष्यका कर्तव्य	
१३- शरणागतिका साधन, उसका स्वरूप एवं विश्वास और सम्बन्धका महत्त्व	169
१४- भगवान्‌के अवतारका हेतु और उनकी लीलाका रहस्य	175
१५- साधनमें सफलता न मिलनेका कारण और निष्कामताकी आवश्यकता, संकल्पोंके नाशका उपाय	179
१६- गोपीभावका रहस्य और उसके लिये सत्संगकी आवश्यकता	181
१७- मनुष्यके विकासका उपाय तथा चरित्रबल, विवेकबल और विश्वासबल इन तीनोंकी आवश्यकता, उनका महत्त्व और उनकी प्राप्तिका उपाय	184

विषय	पृष्ठ-संख्या
१८- मोह और प्रेमका भेद; अपनी योग्यता, रुचि और विश्वासके अनुसार साधन निर्माण करनेकी युक्ति; भगवान्‌की महिमापर विश्वास; लक्ष्यपर दृष्टि रखनेकी आवश्यकता; असली जीवन-का स्वरूप	189
१९- जगत्‌से सम्बन्ध होनेका कारण	194
'' अपनी गलतीको समझना आवश्यक; दीनता और अभिमानके नाशका उपाय	
'' पुस्तक-अध्ययनकी अपेक्षा अपने जीवनका अध्ययन परम आवश्यक	
'' विद्या और शिक्षाका भेद	
२०- पुरुषत्वकी व्याख्या और मीराजीकी जीवगोस्वामीजीसे बातचीत कान्ताभावका स्वरूप	198
'' साधनमें तत्परता होनेका उपाय और साधनका महत्त्व	
'' भगवान्‌के नाते किया जानेवाला हरेक कर्म साधन है	
२१- शान्ति मिलनेका उपाय	204
'' भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं	
'' अपने दोषोंको देखने और मिटानेकी युक्ति	
'' दूसरोंके दोष देखना साधनमें विघ्न है	
'' जानकारीके अनुसार करनेसे सफलता	
'' क्रियाशक्ति और चिन्तनशक्तिका उपयोग	
'' अपने अधिकारका त्याग और दूसरेके अधिकारकी रक्षा— यही कर्तव्य है	
२२- दुःखकी निवृत्तिका उपाय	211
२३- मन न रुकनेका कारण और उसे रोकनेका उपाय	211
'' 'क्या करना चाहिये'का विवेचन	
२४- प्रेम-प्राप्तिका साधन—विश्वास और अपनापन	215
२५- भावदृष्टि और तात्त्विकदृष्टि	218
'' मन और तनका स्वरूप	
'' भजन करनेका समय	
'' बच्चोंको शिक्षा देनेका ढंग	
'' तीर्थोंमें किसको जाना चाहिये, वहाँ कैसा व्यवहार करें	

विषय	पृष्ठ-संख्या
,, सफाई, शुद्धता आदिका भेद; आचार और विचारमें विरोध नहीं, एक-दूसरेका सहयोगी साधन है	
,, आचारका वास्तविक स्वरूप	
२६- वीर पुरुष और वीरताका स्वरूप	223
२७- निरन्तर भगवत्स्मृतिका उपाय	227
,, भगवान्‌पर विश्वास और उनका सम्बन्ध	
,, जीवका स्वभाव बालकके समान और भगवान् माताके समान; जगत् खिलौना	
२८- दीनता और अभिमान मिटानेका उपाय	230
,, मन विश्वासका यन्त्र है, विश्वास होता है मनके प्रकाशमें	
,, बिना शरीरका जीवन	
२९- अभिमानका कारण	232
३०- इच्छाओंके नाशका उपाय	233
,, सन्तोष-प्राप्तिका उपाय	
,, गुरुतत्त्वका विवेचन	
,, जीनेकी आशाका त्याग और भगवत्प्राप्तिकी लालसाका महत्त्व	

।। श्रीहरिः ।।

एक महात्मा का प्रसाद

[प्रथम भाग]

(1)

निरन्तर साधन का स्वरूप

(कुछ दिनों पूर्व हमारे एक सज्जन एक महात्मा के पास गये थे, वहां प्रवचन तथा प्रश्नोत्तर रूप में जो कुछ महात्मा जी ने कहा, उसे लिख लिया गया था। उसी को यहां क्रम से दिया जा रहा है।)

साधक के जीवन में ऐसी प्रतीति नहीं रहनी चाहिये कि अमुक समय तो साधन का है और अमुक समय साधन का नहीं है। अमुक क्रिया या प्रवृत्ति तो साधन है और अमुक नहीं। उसका तो प्रत्येक क्षण और प्रत्येक प्रवृत्ति साधनमय होनी चाहिये। जिसकी समझमें सब कुछ भगवान् का है, उसका अपना तो केवल मात्र एक भगवान् के सिवा और कुछ भी नहीं रहा। फिर उसकी कोई भी प्रवृत्ति भगवान् की सेवा से भिन्न हो ही कैसे सकती है ? उसके जीवन का प्रत्येक क्षण भगवान् की प्रसन्नता के लिए उन्हीं की दी हुई योग्यता से, उन्हीं की सेवा में लगेगा। इसके सिवा दूसरा साधन हो ही क्या सकता है।

(2)

चित–शुद्धि का उपाय

(1) बुरे और अनावश्यक संकल्पों का त्याग ही चित्त शुद्धिका पहला उपाय है।

(क) जिस काम से किसी का अहित होता हो, तद्विषयक संकल्पों नाम बुरे संकल्प हैं।

(ख) जिसका वर्तमान से सम्बन्ध न हो, जिस संकल्प को पूरा करने की साधक में योग्यता या शक्ति न हो, यदि शक्ति या योग्यता हो तो भी

वर्तमान काल में उसे पूरा करना आवश्यक न हो या सम्भव न हो, ऐसे संकल्पों का नाम है – अनावश्यक संकल्प।

इनकी निवृत्ति के बाद जो साधक के मन में आवश्यक और भले संकल्प उठते हैं, उनकी पूर्ति अपने–आप होती है, यह प्राकृत नियम है।

(2) आवश्यक और भले संकल्पों की पूर्ति में भी उस पूर्ति के सुख में रख न लेना, किंतु ईश्वर की अहैतु की कृपा का अनुभव करते हुए उनके प्रेम और विश्वास को पुष्ट करते रहना – यह चित्त शुद्धि का द्वारा उपाय है।

(क) आवश्यक संकल्प उनको कहते हैं, जिनके अनुसार साधक की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है और जिनकी पूर्ति का सम्बन्ध वर्तमान से है, जैसे भेज नादि शरीर–सम्बन्धी क्रिया–विषयक संकल्प एवं अपनी योग्यता के अनुसार अन्याय वर्तमान प्रवृत्ति से या निवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले संकल्प।

(ख) भले संकल्प उनको कहते हैं, जिनमें किसी का हित– प्रसन्नता निहित हो।

(3) जब कभी साधक को ऐसा प्रतीत होता हो कि मेरे आवश्यक और शुभ संकल्पों की भी पूर्ति नहीं हो रही है, तो उस समय मन में किसी प्रकार की खिन्नता या निराशा को स्थान नहीं देना चाहिए, किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि –'प्रभु अब मुझे अपनाने के लिए – मुझे अपना प्रेम प्रदान करने के लिए मेरे मन की बात पूरी न करके अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं।' तथा ऐसे भाव से उन प्रेमास्पद के संकल्प में अपने संकल्पों को मिलाकर

उनकी प्रसन्नता से और उनकी प्रेम प्राप्ति की आशा भरी उमंग में आनन्दमग्न हो जाना – यह अन्तः करण की परम शुद्धि का अंन्तिम साधन है।

चित्त शुद्ध होने से निर्विकल्प स्थिति और सन्देह रहित बोध होता है। उस समय साधक के जीवन में सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तथा स्वाधीनता और सामर्थ्य – इनका अनुभव होता है; परन्तु उससे होने वाले सुख में भी साधक को सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए और उसका उपभोग भी नहीं करना चाहिये; प्रत्युत उदासीन भाव से उसकी उपेक्षा करके भगवान के प्रेम और विश्वास को ही पुष्ट करते रहना चाहिये।

(3)
साधनोपयोगी सिद्धांत

साधक के लिए वही सिद्धांत सर्वश्रेष्ठ मान्य हैं, जिसके समझने में उसे किसी प्रकार का सन्देह न हो और जिसके अनुसार अपना जीवन बना लेने में उसे किसी प्रकार की कठिनाई का बोध न होता हो। यानी वर्तमान में प्राप्त परिस्थिति और योग्यता के सदुपयोग से ही जिस सिद्धांत के अनुसार जीवन बना लेना सहज हो। जिसमें निराशा के लिए कोई स्थान न हो, उसको सबसे अधिक प्रिय हो तथा जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो। जिस साधक के पास न धन का बल है, न शरीर का बल है, न बुद्धि–बल है, न इन्द्रिय–बल है, न सदाचार–बल है और न जातिका बल है – ऐसा दीन हीन पतित से भी पतित मनुष्य जिस सिद्धांत के अनुसार सुगमता से अपने साध्य को अनायास सहज ही प्राप्त कर सकता हो, वही सिद्धांत सर्वश्रेष्ठ है। जो सिद्धान्त प्राप्त योग्यता के सदुपयोग द्वारा साधक को साध्य की प्राप्ति करा देने में समर्थ हो, वही उसके लिए वास्तविक सिद्धांत है।

अपने सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए दूसरों के सिद्धांत का आदर करना ही धर्म है; क्योंकि धर्म सभी सिद्धान्तों का समर्थक है।

(4)
भावकी शुद्धि से कर्म की शुद्धि

किसी भी कर्म की शुद्धि के लिए यह जानना परमावश्यक है कि उसका उद्‌गम स्थान क्या है अर्थात् कर्म की उत्पत्ति कहां से होती है? विचार करने पर मालूम होगा कि कर्ता के भाव और संकल्प से कर्म बनता है अर्थात् पहले कर्ता किसी भाव से भावित होकर स्वयं कुछ बनता है, तब उसके अनुसार संकल्प और कर्म की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य कोई अच्छा काम करने में प्रवृत होता है, जब पहले स्वयं अच्छा बनता है। वैसे ही जब किसी बुरे काम में प्रवृत्त होता है, जब पहले स्वयं बुरा बनता है। जैसे चोर बनकर चोरी करता है, भोगी बनकर भोग करता है, सेवक बनकर सेवा करता है इत्यादि। अतः सिद्ध हुआ कि क्रिया की शुद्धि के लिये साधक को पहले अपने अहंभाव को शुद्ध करना परम आवश्यक है; क्योंकि कारण की शुद्धि के बिना कार्य की वास्तविक और स्थायी शुद्धि नहीं होती। इसलिए साधक को चाहिये कि वह अपनी मान्यता को पहले स्थिर और शुद्ध बनावे, विकल्प रहित–यह निश्चय करें कि मैं भगवान का। यह भाव निश्चित होने पर अपने–आप उन्हीं कामों को करने के संकल्प उठेंगे, जो भगवान को प्रिय हैं, जो भगवान की प्रसन्नता के लिये करने आवश्यक हैं। इस प्रकार भाव, संकल्प और कर्म की शुद्धि सुगमता पूर्वक अपने–आप हो सकती है। साधक जिस वर्ण, आश्रम, परिस्थिति में रहता हो उसे तो भगवान की नाट्‌यशाला का स्वांग समझे और उसे स्वांग के अनुसार जब जो कर्म करना आवश्यक हो उसे खूब उत्साह, सावधानी और प्रसन्नतापूर्वक करता रहे, परंतु उस अभिनय को अपना जीवन न माने अर्थात् उसमें जीवन–बुद्धि, सद्‌भाव न रखे। ऐसा होने से अभिनय के रूप में होने वाली

प्रवृत्तियों का राग अंकित नहीं होगा, जिससे निर्वासना आ जायगी और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वाभाविक ही प्रेमास्पद के प्रेम की प्रतीक्षा उदय होगी; क्योंकि अभिनय काल में यह भावना जागृत् रहती है कि हमारे हिस्से में आया हुआ अभिनय ठीक–ठीक पूरा हो जाने पर हमारे प्रेमास्पद हमें जरूर अपनायेंगे, हमसे प्रेम करेंगे। प्रेमास्पद की ओर से मिले हुए अभिनय से छिपे हुए राग की निवृत्ति होती है। राग का अन्त होते ही अनुराग की गंगा स्वतः लहराने लगती है – यह सभी प्रेमियों का अनुभव है। अभिनय करते समय इस बात को कभी न भूले कि मैं उनका हूं, जो इस लीलास्थली रूप जगत् के स्वामी है। अतः मैं जो कुछ कर रहा हूं या मुझे जो कुछ करना है – वह उन्हीं की प्रसन्नता के लिये करना है और इस अभिनय को प्रभु देख रहे हैं।

अहंभाव की शुद्धि के बिना यदि कोई मनुष्य कर्म की शुद्धि के लिए प्रयत्न करता है तो वह कोशिश करने पर भी कर्म को युद्ध नहीं बना सकता; क्योंकि जहां कर्म की उत्पत्ति होती है, जो उसका कारण है, उसकी शुद्धि के बिना कर्म की शुद्धि सम्भव नहीं है।

(5)
(अपने दोषों को देखने और मिटाने की युक्ति)

साधक को चाहिये कि प्राप्त विवेक के द्वारा अपने मन की दशा का भली भांति निरीक्षण करें कि उसकी आन्तरिक रूचि क्या है, उसमें कौन–कौन सी आसक्ति (राग) छिपी हुए अपने दोषों को देख लेने पर वे दोष अपने–आप नष्ट हो जाते हैं और चित्त शुद्ध हो जाता है, यह प्राकृतिक नियम है। जबकि साधक गुरूजनों और शास्त्रों द्वारा सुनकर अपने दोषों को दोष समझता है – उनकी सद्गुणों की भावना से दबाता रहता है, तब तक वे एक बार दब तो जाते है; पर उनका समूल नाश नहीं होता। अतः

पुनः मौका पाकर समय पर वे घोर रूप में भड़क उठते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से देख लेने के बाद दोषों का मूल सहित नाश हो जाता है। यद्यपि साधक बुद्धि जन्य विवेक द्वारा दोषों को दोष रूप में समझता है, उनको छोड़ना भी चाहता है। उसी प्रकार सद्‌गुणों को भी समझता है, तथा उनको धारण भी करना चाहता है; परन्तु जब तक हृदय और विवेक की एकता नहीं हो जाती, मन को उन दोषों में रस आता रहता है और गुणों के रस का अनुभव नहीं होता, तब तक दोषों का त्याग और गुणों का संग्रह नहीं होता। अतः साधक को चाहिये कि वह प्राप्त विवेक के द्वारा गहराई से अपने दोषों की उत्पत्ति नहीं होगी और गुणों का अभिमान नहीं होगा। तब बुद्धि अपने–आप सम और स्थिर हो जायगी।

(6)
(भगवत प्रेम की प्राप्ति का उपाय)

साधक को चाहिये कि अपने मन को पुनर्जन्म और नर कादिका या अन्य किसी प्रकार भय दिखाकर या लालच देकर उसकी रूचिको दबावे नहीं; किंतु प्राप्त विवेक के द्वारा उसकी रूचि का निरीक्षण करता रहे। ऐसा करने से मन की दशा का ज्ञान सहज में ही हो सकेगा और उस रुचि के अनुसार आचरण करने पर भी जब मन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी, तब वह सुगमता से उस रुचि का परिवर्तन स्वीकार कर लेगा। ऐसा करने से स्वाभाविक ही मन में यह रुचि उत्पन्न होगी कि मुझे ऐसा सुख मिले जो सदा बना रहे, जो कभी घटे नहीं और जिसमें दुःख का मिश्रण न हो। इस रुचि के अनुसार जब उसे संसार के किसी भी भोग में–किसी भी परिस्थिति–अवस्था में वैसा सुख नहीं मिलेगा, जब वह सब ओर से भटक कर थक जायेगा, तब मन की रुचि और बुद्धि के विवेक की एकता हो जायगी अर्थात् मन में यह विश्वास हो जायेगा कि भगवान के समान किसी भी प्रकार कोई सुन्दर नहीं है–समस्त सुन्दरता के केन्द्र वे ही हैं; समस्त

जगत की सुन्दरता उनके सौन्दर्य के किसी एक अंश का प्रतिबिम्ब मात्र है; भगवान के समान प्यार करने वाला, प्रेम के तत्त्व को जानने वाला भी दूसरा कोई नहीं है तथा बिना ही कारण दया करने वाले भी वे ही हैं, उनके जैसा दूसरा कोई है ही नहीं—तब मन अपने—आप उनकी ओर लगेगा।

वर्तमान काल में जो साधक को ऐसी प्रतीति होती है कि 'क्या किया जाय, मन भगवान में लगता नहीं, भगवान की ओर मन खिंचता नहीं।' फिर ठीक उसका उलटा हो जायेगा। मन हटाने से भी भगवान से नहीं हटेगा। गोपियों के चरित्र से यह भाव ठीक समझ में आ जाता है। वे एक—दूसरी से क्या कहती हैं—यही न कि 'सखी ! क्या करूँ, जबसे इन आँखों ने उस मोहिनी मूर्ति को देख लिया, तबसे मेरी आँखें, मेरा मन मेरे नहीं रहे। वह उसे छोड़कर अन्य किसी ओर लगते ही नहीं।'

इस प्रकार, हृदय और विवेक की एकता हो जाने पर बुद्धि सम और स्थिर हो जाती है। तब साधक का अहंभाव गलकर प्रेमास्पद के प्रेम की लालसा ने रूपमें बदल जाता है। उस समय अहंभाव और प्रेम की लालसा के भेद की उपलब्धि नहीं होती। दोनों एक हो जाते हैं एवं प्रेमास्पद और उनके प्रेम की लालसा के सिवा कुछ भी नहीं रहता।

(7)
(अहंता, ममता और कामना का रूवरूप तथा उनके नाश का उपाय एवं प्रेम की अभिव्यक्ति)

ध्यान रहे कि शरीर के दोषों का दर्शन करना, उनका चिन्तन करना नहीं है। दोषों का चिन्तन तो साधन में विघ्न रूप है, आसक्ति को पुष्ट करने वाला है। अतः साधक को चाहिये कि शरीर की आदि, मध्य अन्तिम अवस्था पर तात्त्विक विचार करके उसकी वास्तविकता को देखें। उसका या उसके

दोषों का चिन्तन न करे। इस प्रकार, जब साधक प्राप्त विवेक के द्वारा शरीर के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कर लेता है, तब शरीर की सत्यता और सुन्दरता मिट जाती है। उसके मिटते ही काम का अन्त हो जाता है। फिर अनन्त और नित्य सौन्दर्य के निधान परम प्रेमास्पद प्रभु से मिलने की लालसा जागृत् हो जाती है। साधक को विचार करना चाहिये कि शरीर में सुन्दरता, नित्यता और प्रियता की प्रतीति क्यों होती है? इसका कारण क्या है?

विचार करने पर मालूम होगा कि अविचार अर्थात् विचार की कमी ही इसका कारण है। साधक का अपना स्वरूप नित्य चेतन और आनन्दमय है। इसलिये वह जिसके साथ अपने को मिलाकर उसमें अहंभाव कर लेता है, उसी में उसे नित्यता और चेतना का भास होने लगता है और वह तब तक रहता है, जब तक साधक प्राप्त विवेक के द्वारा उस पर विचार नहीं करता अर्थात् अपनी जानकारी का निरादर करता रहता है। वास्तव में जो जिसका सजातीय है, उसी से उसकी एकता अर्थात वास्तविक सम्बन्ध है। अपने विजातीय से कभी भी किसी की एकता या सम्बन्ध नहीं होता, तथापि शरीर, जो कि अपना सजातीय नहीं है, उसे ही अज्ञानवश सजातीय मानकर मनुष्य उससे अपनी एकता और सम्बन्ध मानने लग जाता है। इसी का नाम अविचार है और यही समस्त अनर्थों का मूल है।

यह सभी मनुष्यों की स्वाभाविक जानकारी है कि शरीर मैं नहीं हूँ। बोलचाल में भी वह कहता है कि यह मेरा हाथ है, यह पैर है, यह आँख है, यह मन है, यह बुद्धि है इत्यादि। कोई भी ऐसा नहीं कहता कि मैं हाथ हूँ, मैं आँख हूँ, तथापि ऐसी मान्यता बन गयी है कि शरीर मैं हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ ऐसा अनुभव सजग नहीं रहता। यही कारण है कि वह शरीर के सुख–दुःख से अपने को सुखी–दुःखी मानता है। अत एव यह अनित्य, क्षणभंगुर एवं गन्दा शरीर नित्य एवं सुन्दर भासने लग गया है। इसमें और इसके सम्बन्धियों में अपनत्व का सम्बन्ध हो जाने के कारण उनमें प्रियता

का भास होता है, इसी को 'काम' कहते हैं। इसी का विस्तार नाना भोग–सामग्रियों को, उनके भोगने की शक्ति को और उसके उपयुक्त परिस्थितियों को प्राप्त करने की इच्छाएँ हैं। प्रकृति का यह नियम है कि इच्छाओं के अनुसार मनुष्य की प्रवृत्ति तो होती है पर उस प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति कुछ भी नहीं होती। इच्छाओं को मनुष्य मिटा तो सकता है पर उनकी पूर्ति नहीं कर सकता। भोगों के उपभोग से होता क्या है? उनके भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग–वासना की **उत्तरो**त्तर वृद्धि। जिसके कारण अभाव का अनुभव कभी नहीं मिटता और कहीं भी सुख–शान्ति की उपलब्धि नहीं होती।

साधक को चाहिये कि उसे जो स्वतः जानकारी प्राप्त है, उसका आदर करे, उसका सदुपयोग करे, उसके द्वारा यह निश्चय करे कि न तो यह शरीर मैं हूँ और न यह मेरा है। जब यही मेरा नहीं है, तब इससे सम्बन्ध रखने वाले इसी के सजातीय अन्य पदार्थ तो मेरे हो ही कैसे सकते हैं? यह निश्चय होते ही सब प्रकार की इच्छाएँ अपने–आप निवृत्त हो जाती हैं। अन्तःकरण शुद्ध, शान्त और स्थिर हो जाता है। फिर यह निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि मेरे तो केवल भगवान् हैं; क्योंकि मैं उन्हीं का हूँ। मेरी और उनकी सजातीयता है। स्वभाव से ही मैं उनका प्रिय हूँ, वे मेरे प्रेमास्पद हैं। जिस समय मैं उनके और अपने सम्बन्ध को भूला हुआ हूँ–उस समय भी मेरा और उनका जो नित्य सम्बन्ध है–वह तो है ही। उसका कभी विच्छेद नहीं होता। यह विश्वास दृढ़ हो जाने पर तत्काल साधक के हृदय में उन परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद अपने प्रभु से मिलने की उत्कट लालसा जागृत् हो उठती है। उसकी पूर्ति होने पर भी वह मिटती नहीं, बल्कि नित्य नूतन बनी रहती है।

भगवत प्रेम किसी भी कर्म का फल या क्रिया–साध्य वस्तु नहीं है। उसके लिये कालान्तर की प्रतीक्षा करना भूल है। भगवान से और उनके

एक प्रेम से साधक का देश, काल, अवस्था विषयक किसी प्रकार का भी व्यवधान अथवा दूरी नहीं है। उपर्युक्त प्रकार से सब प्रकार की इच्छाएँ मिट जाने पर योग और बोध की प्राप्ति हो जाती है, तब भगवत प्रेम का प्राकट्य और भगवान का सान्निध्य स्वतः ही बिना किसी प्रयत्न के अपने–आप होता है।

जीव की सबसे बड़ी भूल यही है कि वह अपनी स्वाभाविक जानकारी का आदर नहीं करता, उसकी अवहेलना करके उसके विरुद्ध वृक्ष आचरण करता है। इस भूल को साधक मिटा सके तो भगवान् और उनके प्रेम की प्राप्ति में विलम्ब न हो। इसका सम्बन्ध वर्तमान से है। इसे भविष्य के लिये छोड़ना ही प्रमाद करना है।

शास्त्रों में जो यह कहा है कि साधन करते–करते कालान्तर में प्रेम चित्त की शुद्धि और उसका परिणाम योग, बोध एवं प्रभु–प्रेम की प्राप्ति होती है, यह कहना केवल उसी अंश में ठीक है कि साधक कहीं सफलता में विलम्ब देखकर निराश न हो जाये। वास्तव में विलम्ब का कारण है अपनी जानकारी का अनादर करना; क्योंकि उसके बाद का सारा काम तो भगवान की अहैतुकी कृपा से अपने–आप पहले से ही बना रहता है। उसके लिये प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। जानकारी के आदर का परिणाम है–पूर्ण वैराग्य। वैराग्य की पूर्णता ही योग तथा बोध है। अबाध और भोगका हेतु राग ही है। बोध की पूर्णता में ही प्रेम निहित है।

(8)

(योग, बोध और प्रेम क्रिया साध्य नहीं हैं। विवेक का आदर ही इनकी प्राप्ति उपाय है – नामजप और स्मरणका भेद तथा प्रेमका महत्त्व)

ध्यान रहे कि योग, बोध और प्रेम क्रिया साध्य नहीं हैं। किसी क्रिया के फलरूप में इनकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि क्रिया का जन्म कर्ता–भाव

से होता है। कर्ता–भाव शरीर में मैं–भाव होने पर ही होता है एवं शरीर में मैं–भाव अविचार के कारण होता है। जहाँ अविचार है अर्थात विवेक का आदर नहीं है–वहाँ योग, बोध, प्रेम कैसे हो सकते हैं?

यह निश्चित नियम है कि प्राप्त विवेक का आदर करने पर अर्थात उसका सदुपयोग करने पर जब इन्द्रिय जनित ज्ञान पर बुद्धि की विजय हो जाती है, तब अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है। उस समय शरीर में अहंता–ममता न रहने के कारण कर्तापन और भोक्तापन भी नहीं रहता। जब सब प्रकार के राग और वासनाओं का समूल नाश हो जाता है तब वृत्ति निरोध रूप योग अपने–आप सिद्ध हो जाता है। उसके होने पर विकल्परहित बोध अपने–आप प्रकट होता है, यह नियम है। ऐसी परिस्थिति में भगवत प्रेम की लालसा जाग्रत होती है और हृदय में प्रेम की गंगा लहराने लगती है। जिसका कभी अन्त नहीं होता है–नित्य नया प्रेम बना रहता है।

साधक का पुरुषार्थ यहीं तक है कि वह अपने अन्तःकरण में सब प्रकार की भोग वासनाओं का अन्त करके उसे शुद्ध कर ले, उसके पश्चात् उसे कोई प्रयत्न कर्तव्य नहीं रहता।

अपने प्रेमास्पद का स्मरण या चिन्तन कर्म नहीं है; क्योंकि वह अपने–आप होता है। उसमें कर्तापन का अस्तित्व नहीं रहता।

नाम–जप और स्मरण में यही अन्तर है कि जप तो प्रेम की उपलब्धि के लिये कर्ता–भाव पूर्वक किया जाता है। उसमें क्रिया की अधिकता और भाव की न्यूनता रहती है; किन्तु स्मरण–चिन्तन तो प्रेमास्पद के विरह में अपने–आप होता है।

जो ध्यान या चिन्तन भगवान के गुण, नाम, लीला आदि का महत्त्व सुनकर किसी प्रकार के रूप, आकृति या भाव के धारणापूर्वक कर्तापन के सहित किया जाता है, वह अन्तःकरण के शुद्धि का हेतु और भगवान में प्रेम–विश्वास उत्पन्न करने वाला है, इसलिये वह भक्ति का ही एक अंग है;

परन्तु उसके साथ जब तक कर्तापन का सम्बन्ध है, तब तक उसमें व्यवधान अनिवार्य है। वह सर्वथा निरन्तर नहीं हो सकता।

जो स्मरण–चिन्तन प्रेमास्पद के वियोग में–उनकी विरह–व्याकुलता में होता है–उसमें व्यवधान नहीं होता; क्योंकि उसमें कर्तापन और भोक्तापन का अस्तित्व नहीं रहता, एकमात्र प्रेम–ही–प्रेम रह जाता है। उस समय साधक का शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये वह क्रिया साध्य नहीं है।

जो कुछ कर्तापन के भाव से किया जाता है, उसका फल तत्काल नहीं मिलता, कालान्तर में मिलता है। भगवत प्राप्ति और उनका प्रेम वर्तमान में मिलता है। इसमें कालान्तर की अपेक्षा नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह प्रयत्न साध्य नहीं है।

जब साधक अपने–आपको सर्वथा भगवान के समर्पण करके उन्हीं पर निर्भर हो जाता है, तब उसका कर्तापन सर्वथा गल जाता है। करने की वासना का अन्त हो जाता है। उसकी अभिलाषा भगवान की अकारण कृपा से अपने–आप पूर्ण होती है। हृदय प्रेम से छका रहता है। करने के द्वारा जो कुछ मिला है, उसके राग की निवृत्ति हो जाती है और जो वर्तमान में सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है, उसके विश्वास पर चित्त शुद्ध हो जाता है।

जो सचमुच नित्य वर्तमान है, वह (परमेश्वर) अपने को और जो सदा–सर्वदा नहीं है–उसको भी प्रकाशित करता है। पर 'है' (परमात्मा)–की प्रीति–जो वास्तव में नहीं है, उसकी निवृत्ति में और जो है उस (परमात्मा)–की प्राप्ति में समर्थ है। इसलिये भगवत प्रीति का महत्त्व भगवान से भी अधिक है। अतएव भगवद् विश्वासी साधकों को भगवत प्रीति और विश्वास को सर्वदा सुरक्षित रखना चाहिये।

(9)

(सुख–दुःख का कारण किसी वस्तु या प्राणी को न मानना राग–द्वेष के नाश का उपाय है। इस विषय में हित कर मान्यता का वर्णन)

किसी भी कर्म के फलरूप में प्राप्त परिस्थिति और भोग समुदाय में राग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जिस प्राप्त पदार्थ में मनुष्य का राग होता है, उसी जाति के अप्राप्त पदार्थों का चिन्तन होता है तथा उनके संस्कार अंकित होकर वासना का रूप धारण कर लेते हैं। उससे अन्तःकरण मलिन होता रहता है।

राग यानी आसक्ति, द्वेष यानी वैरभाव–इन दोनों का समूल नाश करने के लिये साधक को चाहिये कि इन्द्रिय–ज्ञान के अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल प्रतीत होने वाली परिस्थितियों की प्राप्ति में जो सुख और दुःख होता है, उनमें किसी दूसरे को कारण न समझे। दूसरे व्यक्तियों को, क्षुद्र जीवों को या पदार्थों को सुख–दुःख का कारण मान लेने पर उनमें आसक्ति और वैरभाव होना अनिवार्य है। जब तक मनुष्य का किसी व्यक्ति में या पदार्थ में राग–द्वेष विद्यमान रहता है, तब तक चित्त शुद्ध नहीं होता। उसके मन में अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन होता रहता है।

वास्तव में यदि देखा जाये तो सुख–दुःख में दूसरा व्यक्ति, प्राणी या पदार्थ हेतु हैं भी नहीं। कोई पूछे कि कौन हेतु है, तो इस विषय की मान्यता तीन भागों में बाँटी जा सकती है–

(1) यह कि पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्मों के फलरूप में ही समस्त प्राणियों को अनुकूल और प्रतिकूल भोग प्राप्त होते हैं। दूसरा कोई कारण नहीं है। यह मान्यता तो उन मनुष्यों की होती है, जो देहाभिमानी और कर्मासक्त हैं। अपनी इस मान्यता के अनुसार उनका बुरे कामों को छोड़कर, अच्छे कामों में प्रवृत्त होने का निश्चय दृढ़ होता है, जो उनको उन्नतिशील बनाने में सहायक होता है। इसलिये यह मान्यता भी एक प्रकार से अच्छी है।

(2) सुख और दुःख की प्राप्ति का कारण एकमात्र मनुष्य की प्रमाद अर्थात् प्राप्त विवेक का आदर न करना यानी उसका सदुपयोग न करना ही है, दूसरा कुछ नहीं; क्योंकि विचारवान् साधक को जब किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक प्रतिकूलता प्राप्त होती है, तब वह उससे दुःखी नहीं होता, बल्कि यह समझकर प्रसन्न रहता है कि प्रतिकूलता ही मनुष्य के जीवन को उन्नत करने वाली है। जिसके जीवन में प्रतिकूलता का अनुभव नहीं होता, उसकी उन्नति की ओर प्रगति नहीं होती। यदि प्रतिकूल परिस्थिति पैदा न होती तो शरीर और संसार से अहंता–ममता का दूर होना प्रायः सम्भव ही नहीं था। अतः प्रतिकूल परिस्थिति तो शरीर और संसार से अलग करने वाली है। जब शरीर में अहंभाव और उससे सम्बन्धित जगत में मेरापन न रहे, तब कोई भी परिस्थिति मनुष्य को सुख या दुःख देने वाली हो ही नहीं सकती। यह मान्यता उन विचारशील साधकों की होती है, जो एकमात्र प्रमाद को ही अहंता–ममता का हेतु समझकर अपने प्राप्त विवेक का आदर करने वाले हैं।

(3) तीसरी मान्यता हर–एक परिस्थिति में सर्वत्र और सर्वदा भगवान की कृपा का दर्शन करने वाले, भगवान पर निर्भर परम विश्वासी भक्तों की होती है। वे अनुकूल परिस्थिति में तो इस भावना से भगवान की अहैतु की कृपा का अनुभव करके उनके प्रेम में विभोर हो जाते हैं कि वे परम सुहृद् प्रभु मेरी हर–एक आवश्यकता का कितना अधिक ध्यान रखते हैं। मुझ–जैसे अधम प्राणी पर भगवान की कितनी दया है, जो अपनी सेवा कराकर मुझे अपना प्रेम प्रदान करने के लिये यह सामग्री और इनके उपयोग की योग्यता दी है एवं प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर वे यह सोचते हैं कि इस शरीर में और संसार में जो मैंने प्रमादवश सुख मान लिया था, जिसके कारण मैं अपने परम सुहृद् प्रभु से विमुख हो रहा था, उस शरीर और संसार से विमुख करके अपनी ओर आकर्षित करने के लिये भगवान ने कृपा पूर्वक यह परिस्थिति दी है। भगवान की कैसी अनुपम दया है कि वे अपने दास को हर समय हर–एक प्रकार से अपना प्रेम प्रदान करने के लिये उत्सुक रहते

हैं। इस प्रकार प्रभु की कृपा का अनुभव करता हुआ उनके प्रेम में विभोर होता रहता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की ही मान्यता अपने–अपने अधिकार के अनुसार प्राणी को उन्नतिशील बनाती है। इसके विपरीत जो दूसरे प्राणियों को या पदार्थों को अपने सुख और दुःख का हेतु मानता है, उसका सब प्रकार से पतन होता है; क्योंकि जिस प्राणी या पदार्थ को मनुष्य अपने सुख में हेतु मान लेता है, उसमें उसका राग हो जाता है और जिसको दुःख का हेतु मानता है, उससे द्वेष हो जाता है। ये राग और द्वेष मनुष्य को उन प्राणी–पदार्थों के चिन्तन में लगाकर मन को मलिन और विक्षिप्त कर देते हैं। अतः उसको किसी भी समय शान्ति नहीं मिलती।

जब साधक का किसी प्राणी में वैरभाव–द्वेष नहीं रहता, तब सब में समान भाव से प्रेम हो जाता है। आसक्ति और स्वार्थ को लेकर जो प्राणियों में प्रियता होती है वह प्रेम नहीं है, वह तो मोह है। अतः वह प्रियता, जिस–जिस व्यक्ति या पदार्थ में ममता होती है, वहीं होती है। विभु नहीं होती। उसमें द्वेष का अभाव नहीं होता। परन्तु जो द्वेष का समूल नाश होने पर समभाव से सबमें प्रेम होता है, वह विशुद्ध प्रेम है। उसमें किसी से कुछ लेना नहीं रहता। अतः वह प्रेम देखने में प्राणियों के साथ होने पर भी वास्तव में भगवान में ही है।

शास्त्रों में जो सुख–दुःख को समान समझने की बात कही जाती है, उसका भी यही भाव मालूम होता है कि दोनों का एक ही नतीजा हो परिणाम में भेद न हो। उपर्युक्त प्रकार से जब साधक सुख–दुःख का कारण दूसरे को न मानकर प्रारब्ध को या प्रमाद को अथवा भगवान की अहैतु की कृपा को मान लेता है, तब उसका दोनों प्रकार की परिस्थितियों में भेद–भाव नहीं रहता। उसके लिये अनुकूल परिस्थिति के समान ही प्रतिकूल परिस्थिति भी प्रसन्नता और विकास का कारण बन जाती है। साधक भोग से योग की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर तथा राग–द्वेष से त्याग और प्रेम की ओर आकर्षित हो जाता है।

उपर्युक्त भावना से सुख 'उदार' बनाने में और दुःख 'विरक्त' बनाने में समर्थ है, जिससे प्राणी का हित ही होता है। जो प्राणी सुख मिलने पर उसके उपभोग में लोलुप हो जाता है और दुःख आने पर भयभीत हो जाता है, वह बेचारा सुख–दुःख का सदुपयोग नहीं कर पाता, जिसका न करना वास्तव में अवनतिका मूल है।

सुख–दुःखमें साधन–बुद्धि करके उनका उपर्युक्त प्रकार से उपयोग करना साधक के लिये परम आवश्यक है। सुख–दुःख के उपयोगयुक्त जीवन को जीवन मान लेना भूल है। जीवन तो वास्तव में वह है, जिसका अनुभव सुख–दुःख से रहित होने पर होता है।

(10)
(परदोष–दर्शन का और दोषों के चिन्तन का सर्वथा त्याग करके निर्दोषता प्राप्त करने की प्रेरणा)

साधक को चाहिये कि वह दोष–दर्शन को सर्वथा त्याग दे, क्योंकि दोष करने की अपेक्षा दोषों का चिन्तन अधिक पतन करने वाला है। दोषों को क्रिया रूप में करने में तो बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, परन्तु दोषों के चिन्तन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं प्रतीत होती। इस कारण उनके चिन्तन में रस लेने की आदत स्वाभाविक–सी हो जाती है।

इस आदत का त्याग करने के लिये साधक को अपने दोष देखने की आदत डालनी चाहिये। जितनी गहराई से वह अपने दोष देखेगा, उतना ही उसको अपने दोषों का अधिक भास होगा एवं जैसे–जैसे वह उन दोषों को सचमुच दोष मानता जायगा–वे उससे दूर होते चले जायेंगे। मनुष्य यह समझकर भी कि मुझमें अमुक दोष है, किसी–न–किसी अंश में उसमें रस लेता रहता है और उसमें गुण–बुद्धि कर लेता है। यही कारण है कि अपने में जिस दोष को मनुष्य स्वीकार करता है, उसे भी छोड़ता नहीं। उससे चिपका रहता है। अतः साधक को चाहिये कि अपने दोष को गहराई से देखे

और विचार पूर्वक उसे छोड़ने का दृढ़ संकल्प करें। जो भूल अपनी समझ में आ जाय, उसको पुनः नहीं दोहरावे। ऐसा करने से साधक का जीवन बहुत शीघ्र परिवर्तित हो सकता है। अपने दोषों को देखकर उनका त्याग कर देना ही लाभप्रद है। उनका चिन्तन करना नहीं; क्योंकि चिन्तन करने से उनका राग नहीं मिटता। मनुष्य का जीवन सर्वथा दोष युक्त नहीं होता, उसमें गुण भा रहता ही है; परन्तु उस गुण में जो अभिमान है, वह भी दोष ही है। अतः साधक को गुणों के अभिमान का भी त्याग कर देना चाहिये। दोर्षों की उत्पत्ति न हो और गुणों का अभिमान न हो, यही वास्तविक निर्दोषता है।

(11)

(साधन में दूसरा बाधा नहीं डाल सकता – अपना प्रमाद ही साधन में बाधक है उसका त्याग दूसरों की आलोचना का त्याग तथा संसार और शरीर से अपनता का त्याग करके एकमात्र भगवान को ही विश्वास पूर्वक अपना मानने की प्रेरणा – गोपियों के चरित्र से शिक्षा प्राप्त करना तथा कर्म करनेका तरीका – अपने दोषों को देखने और मिटाने का तरीका)

प्राणी के अन्तःकरण में जिन दोषों के कारण अशुद्धि या मलिनता है, वे दोष कहीं बाहर से आये हुए नहीं हैं, स्वयं उसी के बनाये हुए हैं। अतः उनको निकालकर अन्तःकरण को शुद्ध बनाने में यह सर्वथा स्वतन्त्र है।

मनुष्य सोचता है और कहता है कि 'मेरे प्रारब्ध ही कुछ ऐसे हैं जो मुझे भगवान की ओर नहीं लगने देते, मुझपर भगवान की कृपा नहीं है। आजकल समय बहुत खराब है। सत्संग नहीं है। आस–पास का वातावरण अच्छा नहीं है। शरीर ठीक नहीं रहता। परिवार का सहयोग नहीं है। अच्छा गुरु नहीं मिला। परिस्थिति अनुकूल नहीं है। एकान्त नहीं मिलता। समय नहीं मिलता' आदि, इसी प्रकार के अनेक कारणों को वह ढूँढ़ लेता है, जो उसे अपने आध्यात्मिक विकास में रुकावट डालने वाले प्रतीत होते हैं। और

इस मिथ्या धारणा से या तो वह अपनी उन्नति से निराश हो जाता है या इस प्रकार का सन्तोष कर लेता है कि भगवान की जैसी इच्छा, वे जब कृपा करेंगे, तभी उन्नति होगी। परन्तु वह अपनी असावधानी तथा भूल की ओर नहीं देखता।

साधक को सोचना चाहिये कि जिन महापुरुषों ने भगवान की इच्छा पर अपने को छोड़ दिया है, उनके जीवन में क्या कभी निरुत्साह और निराशा आती है? क्या वे किसी भी परिस्थिति में भगवान के सिवा किसी व्यक्ति या पदार्थ को अपना मानते हैं? उनके मन में क्या किसी प्रकार की भोग–वासना शेष रहती है? यदि नहीं, तो फिर अपने बनाये हुए दोषों के रहते भगवान की इच्छा का बहाना करके अपने मन में झूठा सन्तोष मानना या आध्यात्मिक उन्नति में दूसरे व्यक्ति, परिस्थिति आदि को बाधक समझना अपने–आपको और दूसरों को धोखा देने के सिवा और क्या है?

यह सोचकर साधक को यह निश्चय करना चाहिये कि भगवान की प्रकृति जो कि जगत–माता है, उसका विधान सदैव हितकर ही होता है, वह किसी के विकास में रुकावट नहीं डालती, वरं सहायता ही करती रहती है। कोई भी व्यक्ति या समाज किसी के साधन में बाधा नहीं डाल सकता। कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसका सदुपयोग करने पर वह साधन में सहायक न हो। भगवान की कृपा शक्ति तो सदैव सब प्राणियों के हित में लगी हुई है। जब कभी मनुष्य उसके सम्मुख हो जाता है, उसी समय उसका हृदय भगवान की कृपा से भर जाता है।

साधक को चाहिये कि उसका अपना बनाया हुआ जो यह महान दोष है कि जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, जो किसी प्रकार भी अपने नहीं हो सकते, उन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के संघात रूप शरीर को और उससे सम्बन्धित पदार्थों को अपना मान लिया है तथा जिन पर किसी प्रकार भी विश्वास नहीं करना चाहिये, उन पर विश्वास कर लिया है। एवं जिन परम सुहृद् परमेश्वर पर विश्वास करना चाहिये, जो सब प्रकार से विश्वास के योग्य हैं और सजातीय होने के नाते जो सचमुच सब प्रकार से अपने हैं,

उन पर न तो विश्वास करता है न उन्हें अपना मानता है और न वर्तमान में उनकी आवश्यकता का ही अनुभव करता है। यही एक ऐसा महान् दोष है जिससे सब प्रकार के बड़े–बड़े दोष उत्पन्न हुए हैं और होते रहते हैं। अतः इस दोष का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

यह दोष मनुष्य का अपना बनाया हुआ है। इसलिये स्वयं ही इसे दूर करना पड़ेगा। अपने बनाये हुए दोष को दूर करने में कोई भी साधक असमर्थ नहीं हो सकता। इस पर भी यदि उसे अपनी कमजोरी का भान हो, यदि वह अपने को सचमुच असमर्थ समझता हो तो उसे निर्बलता के दुःख से दुःखी होकर उस सर्व समर्थ प्रभु की शरण में जाना चाहिये जो निर्बलों के बल हैं, पतितों को पवित्र बनाने वाले और दीनबन्धु हैं। निर्बलता के दुःख से दुःखी साधक को उस निर्बलता का नाश होने से पहले चैन कैसे पड़ सकती है।

दूसरों की आलोचना करते समय प्राणी के मन में ऐसे भाव उठा करते हैं कि 'अमुक आचार्य ने अमुक भूल की, जिससे उनके अनुयायियों का विकास नहीं हुआ। अमुक नेता में यह गलती है, अमुक समाज में यह दोष है, अमुक साधक यह भूल करता है। अमुक समुदाय के लोग इस अंश में भूल करते हैं। हिन्दुओं की अमुक गलती है। अंग्रेजों की अमुक भूलें हैं। मुसलमानों ने अमुक गलती की। 'इस प्रकार वह सबके दोषों का बड़ी चतुराई के साथ निरीक्षण करता है। उस समय सारे जगत की बुद्धि एकत्र होकर उसमें आ जाती है। पर वही मनुष्य अपनी उस बुद्धि को अपने दोषों के देखने में नहीं लगाता। यदि वह दूसरों के उन दोषों को देखना छोड़ दे; जो वास्तव में उन लोगों में हैं कि नहीं, कहा नहीं जा सकता। तथा उस स्वभाव को छोड़कर अपने दोषों को देखने में अपनी बुद्धि का प्रयोग करे और जो दोष समझ में आ जाये उनको छोड़ता चला जाय तो शीघ्र ही उसका चित्त शुद्ध हो सकता है। साधक को चाहिये जो अपना नहीं है, जो विश्वास के योग्य नहीं है, उसको अपना मानना, उसपर विश्वास करना छोड़ दे। जो अपने को अनेक बार धोखा दे चुके हैं, उनका फिर कभी विश्वास न

करे। कभी किसी भी परिस्थिति में उनको अपना न समझे एवं जो अनादिकाल से अपने साथी हैं, जो सदा ही उसके हित में लगे हैं, जिनके साथ साधक का नित्य सम्बन्ध है, जिन्होंने कभी किसी को धोखा नहीं दियाय वेद–शास्त्र और सन्त लोग तथा अपना अनुभव भी जिसका साक्षी है, उन परम सुहृद् प्रभु पर विकल्परहित विश्वास करक उनको अपना मान ले–यही साधक का परम पुरुषार्थ है।

जो दोष अपने बनाये हुए हैं, उनको कोई दूसरा मिटा देगा, ऐसी आशा करना तथा उनको मिटाने से निराश होना–ये दोनों ही बातें उचित नहीं हैं; क्योंकि ये स्वाभाविक नियम के विरुद्ध हैं।

लोग कहते हैं कि 'भगवान् न्यायकारी हैं' परन्तु साधक को तो यही समझना चाहिये कि 'वे तो सदैव दया करने वाले हैं।' यही कारण है कि वे अपनी दी हुई शक्तियों का दुरुपयोग करने वालों को दण्ड नहीं देते। यदि न्याय करते तो झूठ बोलने वालों की जीभ उसी समय काट डालते। चोरी करने वालों के हाथ काट डालते; परन्तु ऐसा नहीं करते। वे तो सदा प्राणी पर कृपा करते हैं और इस बात के लिये उत्सुक रहते हैं कि यह किसी प्रकार मुझ पर विश्वास करके एक बार ऐसा मान ले कि 'मैं तेरा हूँ।'

जिनका चरित्र सुनने मात्र से काम का सर्वथा नाश हो जाता है, जिनके कृपा–कटाक्ष से प्रेम प्राप्त होता है, जिनकी चरण–रजके लिये उद्धव–सरीखे तत्त्ववेत्ता भी चाह करते हैं–उन गोपीजनों के चरित्र से भी साधक को यही शिक्षा मिलती है कि एकमात्र प्रभु को ही अपना मानना चाहिये; क्योंकि वे एकमात्र श्याम सुन्दर को ही अपना मानती थीं। उन्होंने अपने–आपको भगवान के समर्पण कर दिया था। उनका मन भगवान का मन हो गया था। उनकी आँखें भगवान की हो गयी थीं। उनकी वाणी, प्राण और शरीर सब भगवान के थे। वे अपने सम्बन्धियों और गायों को तथा समस्त पदार्थों को भगवान का ही समझती थीं। वे जो कुछ भी करती थीं, भगवान की प्रसन्नता के लिये, भगवान को सुख पहुँचाने के लिये ही करती थीं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में भगवान की प्रसन्नता का उद्देश्य रहता था।

अतएव साधक को चाहिये कि वह जो कुछ करे, अपने प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिये ही करे। और तो क्या, भोजन करे तो इसलिये कि मेरे न खाने से मेरे प्रेमास्पद को कष्ट न हो जाय। भूखा रहे तो इसीलिये कि आज मेरे प्रेमास्पद इसी में प्रसन्न हैं, इसलिये उन्होंने मुझे भोजन करने का मौका नहीं दिया। इसी प्रकार हर एक प्रवृत्ति में भगवान की प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ सदा उनसे प्रेम बढ़ाता रहे या उनकी प्रेम प्राप्ति की बाट जोहता रहे।

साधक को अपना जीवन सर्वथा भगवान के समर्पण कर देना चाहिये। उसकी ऐसी सद्भावना होनी चाहिये कि 'मेरा जीवन भगवान के लिये है। मुझे उनका न होकर एक क्षण भर भी नहीं जीना है। भगवान् मुझे अपना मानें चाहे न मानें, पर मैं कभी किसी दूसरे का होकर नहीं रहूँगा।'

यदि साधक के मन में यह भाव आये कि भगवान को मैं जानता नहीं, मैंने उनको कभी देखा नहीं तो बिना देखे और बिना जानकारी के उन पर कैसे विश्वास किया जाय और उनको कैसे अपना माना जाय तो अपने मन को समझाना चाहिये कि तू जिन–जिन पर विश्वास करता है और जिनको अपना मानता है, क्या उन सबको जानता है? विचार करने पर मालूम होगा कि नहीं जानता तो भी विश्वास करता है और उनको अपना मानता है और जिनको भली–भाँति जान लेने के बाद न तो वे विश्वास करने योग्य हैं और न वे किसी प्रकार भी अपने हैं, उनमें जो विश्वास तथा अपनापन है, वह तभी तक है जब तक उनकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं है; परन्तु भगवान् ऐसे नहीं हैं। उनको अपना मानने वाला और उन पर विश्वास करने वाला मनुष्य जैसे–जैसे उनकी महिमा को जानता है, वैसे–ही–वैसे उसका विश्वास और प्रेम नित्य नया बढ़ता जाता है; क्योंकि वे विश्वास करने योग्य हैं और सचमुच अपने हैं।

जिस साधक का ऐसा निश्चय हो कि 'मैं तो पहले जानकर ही मानूंगा, बिना जाने नहीं मानूँगा, तो उसे चाहिये कि जिन–जिनपर उसने बिना जाने विश्वास कर लिया है और उन्हें अपना मान रखा है, उन सबकी

मान्यता को सर्वथा निकाल दें। किसी को भी बिना जाने न माने। ऐसा करने से भी उसका अपना बनाया हुआ दोष नाश होकर चित्त शुद्ध हो जायगा। तब उस प्राप्त करने योग्य तत्त्व को जानने की सामर्थ्य उसमें आ जायगी और वह उसे पहले जानकर पीछे मान लेगा। इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। यह भी उनको पाने का एक उपाय है।

जिन्हें मनुष्य अपना मान लेता है और जिन पर विश्वास करता है, क्या उनमें स्वाभाविक प्रेम नहीं होता? क्या उनमें प्रेम करने के लिये मनुष्य को पाठ पढ़ना पड़ता है? क्या किसी प्रकार का कोई अनुष्ठान करना पड़ता है या कहीं एकान्त में आसन लगाकर चिन्तन करना पड़ता है? क्या यह सबका अनुभव नहीं है कि ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता, बल्कि अपने–आप अनायास ही प्रत्येक अवस्था में स्वतः प्रेम हो जाता है।

साधक को चाहिये कि प्रतिदिन शयन के पूर्व भली–भाँति अपने सारे दिन के जीवन का प्राप्त विवेक के द्वारा निरीक्षण करे अर्थात् किन–किन दोषों का किन–किन कारणों से कितनी बार दिन भर में मुझ पर आक्रमण हुआ। उस निरीक्षण से जो असावधानी समझ में आये, उसे त्यागने का दृढ़ संकल्प करे और उस दोष के विपरीत भाव की अपने में स्थापना करे। यदि मिथ्या बोल दिया हो तो जिस प्रलोभन से वह दोष है उसकी तुलना सत्य–भाषण की महिमा के साथ करके अपने मन को समझाये ताकि पुनः वह किसी प्रकार के प्रलोभन से आकर्षित न हो तथा यह संकल्प करे कि 'मैं मिथ्यावादी नहीं हूँ। अब कभी भी है झूठ नहीं बोलूँगा।' इसी प्रकार काम, क्रोध आदि हर एक दोषों के विषय में समझना चाहिये।

प्रातः उठने के पश्चात् जिस–जिस कार्य में प्रवृत्त हो उससे पूर्व विवेक–पूर्वक भली–भाँति निर्णय कर ले कि मेरे द्वारा जो कार्य होने जा रहा है, उससे किसी का अहित या किसी के अधिकार का अपहरण तो नहीं हो रहा है। जिन कार्यों में दूसरों का हित, उनके अधिकार की रक्षा निहित हो, उन कार्यों से कर्ता में शुद्धि आती है और परस्पर में स्नेह की एकता सुदृढ हो जाती है। हृदय प्रीति से भर जाता है। साधक किसी का ऋणी नहीं

रहता। ऐसा होने पर साधक के जीवन में स्वाधीनता आ जाती है। उसे प्रेम, विवेक और योग की प्राप्ति होती है, जो मानव–जीवन का लक्ष्य है; क्योंकि प्रेम से भक्ति, विवेक से मुक्ति, योग से शक्ति स्वतः प्राप्त होती है।

यदि सम्भव हो तो सात दिन में एक बार, जिनसे स्वभाव मिलता हो–ऐसे सत्संगी भाइयों के साथ बैठकर आपस में विचार–विनिमय करें और उनके सामने अपने दोषों को बिना किसी संकोच तथा छिपाव के स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दे तथा उनको हटाने के लिये उनसे परामर्श लें। ऐसा करने से साधक के दोष शीघ्र ही मिट सकते हैं।

(12)
(प्रवृत्ति–निवृत्ति का सदुपयोग और कर्म करने की आसक्ति का त्याग)

जब तक मनुष्य का चित्त शुद्ध नहीं होता, तब तक वह जिसका चिन्तन करना चाहता है, उसका नहीं कर पाता और जिसका नहीं करना चाहता, उसका चिन्तन होता रहता है। जो काम उस करना चाहिये उसे नहीं कर पाता और जो नहीं करना चाहिये उसे करता है।

इसलिये साधक को चाहिये कि जिस समय जो काम उसे कर्तव्य–रूप में प्राप्त हो, उसके करने में अपनी विवेक शक्ति और क्रिया शक्ति को पूर्ण रू॰ से लगाकर पूर्ण धैर्य, उत्साह और सावधानी के साथ जिस ढंग से उसे करना चाहिये वैसे ही करे। उसके करने में न तो आलस्य करे और न जल्दबाजी करे। हर एक प्रवृत्ति के आरम्भ में यह विचार कर ले कि जो काम मैं करना चाहता हूँ, उससे किसी के अधिकार का अपहरण तो नहीं होता है? वह किसी के अहित का कारण तो नहीं है? यह सोचकर अपने प्रभु की सेवा के नाते उस काम को कुशलता पूर्वक पूरा करे। ऐसा कोई काम न करे जिससे भगवान का सम्बन्ध न हो, जो भगवान की आज्ञा और प्रेरणा के विरुद्ध हो।

प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति का आना अनिवार्य है। अतः जो काम कर्तव्य रूप से प्राप्त हो, उसे उपर्युक्त प्रकार से पूरा कर देने पर निवृत्तिकाल में साधक के चित्त की स्थिरता और अपने प्रेमास्पद के प्रेम की लालसा की जागृति अवश्य होती है। अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन अपने–आप शान्त हो जाते हैं।

कोई भी काम छोटा–बड़ा नहीं है। जिस काम को लोग साधारण और छोटा कहते हैं, वह कुशलतापूर्वक ठीक–जैसे, जिस भाव से करना चाहिये, वैसे किया जाने पर वह साधक के लिये किसी भी उत्तम–से–उत्तम मानने वाले काम से कम नहीं रहता; क्योंकि कर्म करने की आवश्यकता किसी प्रकार के फल की कामना के लिये नहीं, किन्तु कर्ता में जो क्रिया शक्ति का वेग है, उसे पूरा करने के लिये है।

उक्त भाव से कर्म करने पर कर्तापन और भोक्तापन अपने–आप विलीन हो जाते हैं। जो उद्देश्य बड़े–बड़े साधनों से कठिनाई के साथ बहुत काल में पूरा नहीं होता, उसकी सिद्धि अनायास थोड़े ही समय अपने–आप हो जाती है।

कर्म के रहस्य को न जानने के कारण साधारण मनुष्य, जिस समय करना चाहिये उसे उस समय नहीं करते एवं जब करते हैं, तब उसे भार रूप समझकर, जैसे–तैसे पूरा कर देने के भावसे करते हैं। पूरी शक्ति लगाकर नहीं करते। अतः उनका राग नष्ट नहीं होता। इससे जिस काल में वे कर्म से निवृत्त होते हैं, उस काल में भी उनके अन्तःकरण में नाना प्रकार के व्यर्थ संकल्पों की स्फुरणा होती रहती है; क्योंकि उनमें क्रियाशक्ति का वेग बना रहता है अथवा काल आलस्य या निद्रा में चला जाता है।

मनुष्य–जीवन का समय सब–का–सब अमूल्य है, अतः उसका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। उसमें भी जो निवृत्तिकाल है, जिस समय मनुष्य के सामने कोई योग्य कर्म नहीं रहता वह समय तो खास तौर पर अपने परम प्रेमास्पद प्रभु का स्मरण–चिन्तन करते हुए उनके प्रेम में डूबे रहने का ही है। ऐसे मौके में यदि साधक के चित्त में अनावश्यक संकल्प

और व्यर्थ चिन्तन होता रहे या तमोगुण की वृद्धि होकर वह समय जडतामें व्यतीत हो जाय तो इससे बढ़कर दुःख देनेवाली भूल क्या हो सकती है? इसलिये साधक को चाहिये कि उसे जो कर्म कर्तव्य रूप से प्राप्त हो, उसको पहले बताये हुए प्रकार से भगवान के नाते, उनकी आज्ञा और प्रेरणा के अनुसार उनकी दी हुई शक्ति का कुशलता पूर्वक प्रयोग करके पूरा करता जाय। जैसे–जैसे साधक प्राप्त–कर्तव्य को ठीक–ठीक पूरा करता जाता है, वैसे–ही–वैसे उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ निवृत्ति में बदल जाती हैं।

जो काम जिस प्रकार करना चाहिये, उस प्रकार धैर्य और उत्साह पूर्वक, सावधानी से न किया जाने पर उसका परिणाम स्वास्थ्य के लिये तथा समाज और देश के लिये भी हितकर नहीं होता। इस दृष्टि से श्री साधक को हर एक काम, चाहे वह खान–पान–सम्बन्धी साधारण हो, चाहे परिवार, समाज, देश से सम्बन्ध रखने वाला हो–ठीक–ठीक करना चाहिये।

जिस समय साधक बिना कर्म किये रह सके अर्थात् उसे न तो कोई काम कर्तव्य रूप से प्राप्त हो और न किसी काम को करने के लिये किसी प्रकार की क्रिया शक्ति का वेग हो, उस समय कर्म का करना आवश्यक नहीं है। कर्म करने की बात तो उसी समय के लिये कही जाती है, जब साधक को कर्म करना आवश्यक हो जाय।

सही प्रवृत्ति होने पर सहज निवृत्ति स्वतः प्राप्त होती है। सहज निवृत्ति ज्यों–ज्यों स्थायी और स्थिर होती जाती है, त्यों–ही–त्यों मन में स्थिरता, हृदय में प्रीति और विचार का उदय अपने–आप होता जाता है, जो कि मानवकी माँग है।

(13)

(कर्म की शुद्धि के लिये भाव और संकल्प की शुद्धि आवश्यक विश्वास, सम्बन्ध, प्रियता ही स्मरण–चिन्तन में हेतु है अतः इनको भगवान में लगाना चाहिय – सत्पुरुषों के संग का और उसकी लालसा का महत्त्व – भगवान की लीला का रहस्य)

पहले यह बात कही गयी थी कि कर्तव्य रूप से प्राप्त कार्य को धैर्य और उत्साह पूर्वक पूरा कर देने से करने की वासना मिटकर स्वतः ही सहज निवृत्ति प्राप्त होती है और साधक का चित्त शुद्ध होता चला जाता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि मनुष्य का हरेक कार्य, उसकी हरेक प्रवृत्ति शुद्ध और सही अर्थात् जैसी होनी चाहिये, ठीक वैसी कैसे हो? विचार करने पर मालूम होगा, हरेक प्रवृत्ति के पहले कर्ता के मन में उसमें प्रवृत्ति की शुद्धि के लिये संकल्प की शुद्धि अनिवार्य है।

बुरे संकल्प और भावना का त्याग करके, अच्छे संकल्प और अच्छी भावना को स्वीकार करने से संकल्प की शुद्धि होती है। बुरे संकल्प और बुरी भावना उसको कहते हैं, जिसमें किसी का अहित निहित हो तथा अच्छे संकल्प और अच्छी भावना वे हैं, जिनमें हित भरा हो। जिसमें दूसरों का हित होता है उसी में साधक का भी हित होता है और जिसमें दूसरों का अहित होता है उसमें अपना भी अहित ही होता है। दूसरे के साथ की हुई भलाई ही अपने प्रति भलाई होती है दूसरे के साथ की हुई बुराई ही अपने प्रति बुराई होती है। इसमें भी सन्देह नहीं है; तथापि मनुष्य दूसरे का अहित करके अपना हिन चाहता है, यह बड़ी भारी भूल है।

संकल्प की शुद्धि के लिये वेदों में ईश्वर से प्रार्थना करने का प्रकार बताया गया है। इसके लिये 'शिवसंकल्प' नामका एक प्रकरण शुक्ल यजुर्वेद में आता है–ऐसा सुना है।

शुभ संकल्पों का चित्तपर बहुत प्रभाव पड़ता है। इससे चित्त शुद्धि सुगमता से हो जाती है। इसलिये साधक को चाहिये कि यदि संकल्प करना

ही हो, संकल्प किये बिना मन न माने तो शुभ संकल्प ही करना चाहिये। अशुभ संकल्प कभी नहीं करना चाहिये।

यदि मन में ऐसी शंका उठे कि क्या चित्त शुद्ध होने के पहले शुभ संकल्पों का करना साधक के वशकी बात है? क्या वह इसमें स्वाधीन है? तो यों समझना चाहिये कि किसी का भी चित्त पूर्ण रूप से अशुद्ध नहीं होता। उसमें अशुद्धि के साथ–साथ शुद्धिका अंश भी अवश्य रहता है। उसी के प्रभाव से मनुष्य के मन में अपना सुधार करने की इच्छा होती है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य बुरे संकल्पों का त्याग करके अच्छे संकल्पों को करने में स्वाधीन है। भगवान की अहैतु की कृपा से वह इस कार्यमें सफल हो सकता है।

संकल्प के अनुसार ही मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः शुभ संकल्पों से मनुष्य की शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होती है और उन कामों को भगवान के नाते धैर्य और कुशलतापूर्वक पूरा करने से कर्ताका भगवान से सम्बन्ध हो जाता है।

यह नियम है कि जिसपर मनुष्य का विश्वास होता है उसी से सम्बन्ध होता है, जिससे सम्बन्ध होता है वही प्रिय होता है, प्रियका ही स्मरण होता है, जिसका स्मरण होता है, उसी का चिन्तन होता है और यह चिन्तन ही आगे जाकर ध्यान, समाधि बन जाता है। जब साधक समाधि के रससे भी उपरत हो जाता है, उसे भी नहीं चाहता, तब उसे विशुद्ध प्रेम की प्राप्ति होती है।

यह बात पहले कही गयी थी कि चिन्तन करने योग्य एकमात्र प्रभु हैं; क्योंकि जो सदा हैं, सब जगह हैं और स्वयं प्रकाश हैं, वे ही चित्त द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। शरीर या भोग्य पदार्थ एवं संसार चिन्तन करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि जो सदा सब जगह नहीं हैं, जो अनित्य और जड हैं, उनकी प्राप्ति चिन्तन से नहीं होती। अतः उनका चिन्तन करना व्यर्थ है। भगवान का चिन्तन ही सार्थक चिन्तन है। अतएव साधक को निरन्तर प्रभु का ही

चिन्तन करना चाहिये। प्रभुका चिन्तन करने के लिये उन पर विश्वास करना और उनको अपना मानना आवश्यक है।

जो वास्तव में अपने नहीं हैं, जिनको मनुष्य भूल से अपना मानता है, जिस माने हुए सम्बन्ध का विच्छेद अवश्य होने वाला है, उन अनित्य क्षणभंगुर पदार्थों को जब तक साधक नित्य और अपना मानता रहता है, तब तक वह अपने सच्चे नित्य सम्बन्धी परम प्रेमास्पद प्रभुको पूर्ण रूप से अपना नहीं मान पाता। इसलिये साधक को चाहिये कि उसका जो शरीर और संसार में 'मैं' पन और अपनापन भूल से माना हुआ है, उसका सर्व तो भाव से परित्याग कर दे। ऐसा करने से उसका अपने नित्य सखा–स्वभाव से ही सुहृद् प्रभु में अपनापन स्वतः हो जायगा। त्याग से प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करने में मनुष्य सदैव स्वतन्त्र है, क्योंकि त्याग करने में कोई भी पराधीन नहीं है।

योग, बोध और प्रेम किसी क्रिया का फल नहीं है। इनका सम्बन्ध साधक की चित्त शुद्धि से है। चित्त शुद्ध होने पर योगी को योग, विचारशील को बोध और प्रेमी को प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। चित्त की शुद्धि उन महापुरुषों के सत्संग से होती है, जिनका भाव शुद्ध हो गया है, अतः साधक को चाहिये कि सत्पुरुषों का संग प्राप्त करके अपने साधन का निर्माण करे और उनके आज्ञानुसार तत्परता से साधन में लग जाय। अपने प्राणों से भी साधन का महत्त्व अधिक समझे।

सत्पुरुषोंका संग मिलने में प्रारब्ध को हेतु नहीं मानना चाहिये। सत्पुरुषों का संग भगवान की अहैतु की कृपा से मिलता है एवं हरेक परिस्थिति में प्रभु की कृपा का दर्शन करने से और उसका आदर करने से भगवान की कृपा फलीभूत होती है। अतएव साधक को भगवान की कृपा पर विश्वास करके प्राप्त शक्ति और परिस्थिति के अनुसार सत्पुरुषों के संग की प्राप्ति के लिये सच्ची अभिलाषा के साथ चेष्टा करते रहना चाहिये। ऐसा करने से उसे सत्संग की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अशुभ संकल्पों के त्याग से शुभ संकल्पों की पूर्ति स्वतः होने लगती है। उससे उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति हो जाती है। पर जो साधक अपने को शुभ संकल्पों की पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं करते, उन्हें सब संकल्पों की निवृत्ति द्वारा योग के रस की प्राप्ति होती है। जो साधक योग के रसमें भी आबद्ध नहीं होते, उन्हें विवेक पूर्वक सद्गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। पर जो साधक मोक्षकी भी उपेक्षा कर देता है, उसे परम प्रेम की प्राप्ति होती है, जो वास्तव में पाँचवाँ पुरुषार्थ है, जिसके प्रभाव से पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानन्दघन अपनी महिमा में नित्य ज्यों–का–त्या स्थित रहता हुआ ही जीव भाव को स्वीकार करता है। सम्पूर्ण संसार जिसके एक अंश में है वह अनन्त ब्रह्म प्रेमियों की गोद में खेलता है।

भगवान में जिस प्रकार ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है, उसी प्रकार उनका माधुर्य भी अनन्त है। वे छः दिन की अवस्था में पूतना के प्राण चूसकर ऐश्वर्य की लीला करते हुए ही, अपनी अहैतु की कृपा से उसे वह गति भी प्रदान कर देते हैं, जो कि बड़े–बड़े तपस्वी, योगियों को भी बड़ी कठिनाई से मिलती है। उन्होंने ब्रह्मा के अभिमान का नाश करने के लिये और गौओं तथा गोप–गोपियों के वात्सल्य–प्रेम की लालसा को पूर्ण करने के लिये स्वयं वत्स और वत्सपाल बनकर अपने ऐश्वर्य और माधुर्य को प्रकट करने वाली कैसी अद्भुत लीला की। जो प्रभु अपने प्रेमी के लिये अपनी ऐश्वर्य–शक्ति को भूलकर प्रेमी के वश में हो जाते हैं, अपने प्रेमी को प्रेमास्पद बनाकर स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं, उस प्रेमी के द्वारा प्रेम पूर्वक दिये हुए पत्र–पुष्प, फल–जल आदि साधारण–से–साधारण पदार्थों के लिये लालायित रहते हैं। उन प्रभु के साथ प्रेम न करके यह मनुष्य उनसे प्रेम करता है, जो इससे प्रेम करना नहीं चाहते। यह उनको चाहता है, जो इसे नहीं चाहते। उनको अपना मानता है, जो कभी इसके नहीं हुए। इससे बड़ा प्रमाद और क्या होगा?

(14)
(सुख भोग की इच्छाओं के नाश का उपाय–विचार और प्रेम स्वरूप से जीव और ईश्वर दोनों ही प्रेमी हैं भोगी नहीं)

पहले चित्त–शुद्धि के लिये सुख–भोग की इच्छाओं के त्याग की बात कही गयी थी। अब विचार यह करना है कि सुख–भोग को इच्छा उत्पन्न कैसे होती है और इसका त्याग कैसे हो सकता है? विचार करने पर पता लगता है कि इसके त्याग के दो उपाय हैं–एक विचार, दूसरा प्रेम, क्योंकि अविचार के कारण शरीर में अहंभाव हो जाने से और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों में मेरापन हो जाने के कारण ही भोगेच्छाओं की उत्पत्ति होती है।

यह हरेक मनुष्य के अनुभव की बात है कि जब उसका किसी के प्रति क्षणिक प्रेम भी होता है, तब उस समय वह अनायास प्रसन्नतापूर्वक अपने प्रेमास्पदको सुख देने की भावना से अपने सुखका त्याग कर देता है। उस समय उपभोग की स्मृति लुप्त हो जाती है और उसे अपने प्रेमास्पद को सुख देने में ही रस मिलता है। उस रसके सामने उपभोग का रस फीका पड़ जाता है। जब साधारण प्रेम की यह बात है, तब जो प्रेम के तत्त्व को जानने वाले हैं, हरेक प्राणी के साथ सदा ही प्रेम करते हैं, प्रेम ही जिनका स्वभाव है, ऐसे परम प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम की जिसको लालसा है, उस प्रेमी की सब प्रकार के सुख भोग–सम्बन्धी इच्छाओं का त्याग अपने–आप बिना प्रयत्न के हो जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम से भी इच्छाओं का त्याग अनायास ही हो सकता है।

जितनी भी उपभोग की इच्छाएँ हैं, वे सब शरीर में अहंभाव हो जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। शरीर के साथ एकता न होने पर किसी के मन में उपभोग की इच्छा नहीं होती। अतः विचार के द्वारा जब मनुष्य यह समझ लेता है कि 'शरीर मैं नहीं हूँ' तब भोगेच्छाओं का त्याग अपने–आप हो जाता है और इच्छाओंका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरण की शुद्धि

है। त्याग और प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेम से त्याग होता है और त्याग से प्रेम पुष्ट होता है। अतः साधक को चाहिये कि अपने प्रेमास्पद प्रभु के नाते हरेक प्राणी को सुख पहुँचाने की भावना से मनुष्य का अन्तःकरण बहुत ही शीघ्र शुद्ध होता है और विशुद्ध अन्तःकरण में प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम की लालसा अपने–आप प्रकट हो जाती है।

साधक को चाहिये कि प्राप्त शक्ति के द्वारा प्रभु के नाते दूसरों के अधिकार की पूर्ति करता रहे और किसी पर अपना कोई अधिकार न समझे। शरीर–निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों को भी दूसरों की प्रसन्नता के लिये, उनके अधिकार को सुरक्षित रखने के लिये ही स्वीकार करे, जो कि लेने के रूप में भी देना ही है, क्योंकि इस शरीर से जिनके अधिकार की पूर्ति होती है, उनका ही तो इस पर अधिकार है। जब साधक शरीर और प्राप्त वस्तु तथा सब प्रकार की शक्तियों को अपने प्रभु की मानता है, उन पर अपना कोई अधिकार नहीं मानता, उनसे किसी प्रकार के उपभोग की आशा भी नहीं करता, तब उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह त्याग और प्रेम ही है, जो अन्तःकरण की शुद्धिका मुख्य साधन है।

प्रेम का अधिकारी प्रेमी ही होता है, भोगी नहीं; क्योंकि उपभोग से प्रेम में शिथिलता आ जाती है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह समझ में आ जाता है कि जीव और ईश्वर दोनों ही प्रेमी हैं। इनमें से कोई भी भोगी नहीं है। जीव में जो भोग बुद्धि जाग्रत् होती है, वह केवल देह के सम्बन्ध से होती है, स्वाभाविक नहीं है; और देह का सम्बन्ध अविचार सिद्ध है, यह सभी दर्शनकार मानते हैं। अतः प्रेम के लिये विवेक पूर्वक देह से असंग होकर चाह रहित होना परम आवश्यक है।

ईश्वर और जीव दोनों प्रेमी होते हुए भी दोनों के प्रेम में बड़ा अन्तर होता है; क्योंकि ईश्वर चाह से रहित और समर्थ भी है। जीव चाह से रहित तो है, परन्तु समर्थ नहीं है। जीव में प्रेम की भूख है इसलिये वह प्रेम करता है और ईश्वर माधुर्य भाव से प्रेरित होकर जीव को प्रेम प्रदान करने के लिये

उससे प्रेम करता है। ईश्वर सब प्रकार से पूर्ण और सर्वथा असंग है, अतः उसमें किसी प्रकार की चाह नहीं होती।

जीव जो भोगों का और उनकी चाह का त्याग करता है, उसमें कोई महत्त्व की बात नहीं है; क्योंकि भोगों को भोगने का परिणाम तो रोग है। उससे बचने के लिये उनका त्याग अनिवार्य है। इसके सिवा जीव को जो कुछ वस्तु और कर्मशक्ति प्राप्त है, वह भी ईश्वर की ही दी हुई है। अतः उनका त्याग करना भी कोई बड़ी भारी उदारता नहीं है। इसी प्रकार सद्‌गति के लालच का त्याग कर देना भी कोई महत्त्वकी बात नहीं है; क्योंकि सब प्रकारके भोगोंकी चाह से रहित होने पर दुर्गति तो होती ही नहीं। इतने पर भी जीव की इस ईमानदारी को अर्थात् उसके नाममात्र के त्याग को भी ईश्वर अपने सहज कृपालु स्वभाव से जीव की बड़ी भारी उदारता मानते हैं और जीव पर ऐसा प्रेम करते हैं कि स्वयं पूर्ण काम होने पर भी जीव से प्रेम करने की कामना का अपने में आरोप कर लेते हैं; क्योंकि प्रेम ईश्वर का स्वभाव है और जीव की माँग है। अतः जो उनसे प्रेम करता है, ईश्वर उसका अपने को ऋणी मानते हैं। सचमुच एकमात्र ईश्वर ही प्रेमी हैं, क्योंकि प्रेम प्रदान करने की सामर्थ्य अन्य किसी में नहीं है।

भोगी मनुष्य प्रेम का अधिकारी नहीं होता। वह तो सेवा का अधिकारी है। प्रेम का अधिकारी तो चाह से रहित ही होता है, क्योंकि चाह युक्त व्यक्ति के साथ किया हुआ प्रेम स्थायी नहीं होता। वह उस प्रेम को भी अपनी चाह–पूर्तिका साधन मान लेता है। अतः प्रेम का आदर नहीं कर पाता।

(15)
(अपनी उन्नति या प्रसन्नता का हेतु किसी अन्य को न मानना भगवान से प्रार्थना का स्वरूप और भगवान की महिमा)

पहले प्रेम और विचार को अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु बताया गया था; क्योंकि विचार से देहाभिमान का त्याग और प्रेम से अपने–आपका

समर्पण होने से अपने–आप निर्वासना आ जाती है। सब प्रकार की चाह का अभाव हो जाना ही अन्तःकरण की परम शुद्धि है।

जब तक मनुष्य के राग–द्वेष समूल नष्ट नहीं हो जाते, तब तक वह चाहसे रहित नहीं हो पाता और जब तक वह अपनी प्रसन्नता का कारण अपने से भिन्न किसी व्यक्ति, वस्तु, अवस्था या परिस्थिति को मानता है, तब तक राग–द्वेष का अन्त नहीं होता। इसलिये साधक को चाहिये कि वह अपने विकास का अर्थात् उन्नति या प्रसन्नता का हेतु किसी दूसरे को न माने।

विचार करने पर मालूम होता है कि किसी व्यक्ति, सम्पत्ति या परिस्थिति पर मनुष्य की उन्नति या प्रसन्नता निर्भर नहीं है; क्योंकि अज्ञानवश अपनी प्रसन्नता का हेतु समझकर वह जिसका जितना संग्रह करता है, उतना ही पराधीनता के जाल में फँस जाता है एवं पराधीनता किसी की प्रसन्नता में हेतु नहीं है, यह प्राणिमात्र का अनुभव है। स्वाधीनता, सामर्थ्य और प्रेम–यह मनुष्य की स्वाभाविक माँग है, जो किसी प्रकार संगठन से या संग्रह से पूरी नहीं हो सकती और स्वाभाविक माँग की पूर्ति के बिना किसी को वास्तविक प्रसन्नता नहीं मिलती।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि स्वावलम्बी मनुष्य जितना सुखी और प्रसन्न रहता है, पराधीन व्यक्ति कभी वैसा प्रसन्न नहीं रह सकता। मनुष्य अज्ञान से ऐसा मान लेता है कि मुझे बड़ा भारी अधिकार मिलने या बहुत–सी सम्पत्ति मिलने से मैं सुखी हो जाऊँगा, परन्तु जैसे–जैसे वैभव बढ़ता है, वैसे–ही–वैसे उसके जीवन में पराधीनता, भय, रोग, भोगासक्ति और कठोरता आदि बढ़ते जाते हैं, जो प्रत्यक्ष ही दुःख के कारण हैं।

इसलिये साधक को चाहिये कि उसने संसार से जो कुछ लिया जाय तथा उससे कुछ ले नहीं है, वह वापस लौटा कर अर्थात् प्राप्त हुई सम्पत्ति और शक्ति के द्वार उसकी सेवा करके उससे उऋण एवं अपने–आपको हो जाय तथा उससे कुछ ले नहीं एवं अपने–आपको भगवान के समर्पण करके अर्थात् उनका होकर भगवान से उऋण हो जाय। इस प्रकार जब उसपर

किसी का ऋण नहीं रहता, तब अन्तःकरण अपने–आप परम पवित्र हो जाता है।

भगवान से भी यही प्रार्थना करे कि 'भगवन् ! मुझे आप अपने किसी भी काम में आने योग्य बना लीजिये। मैं आपकी प्रसन्नता के लिये आपका खिलौना बन जाऊँ या जिस किसी रहकर आपका कृपा पात्र बना रहूँ। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ स्थिति में नहीं चाहिये।

यदि कोई कहे कि भगवान् तो पूर्ण काम हैं। अपनी महिमा में ही सदा प्रसन्न हैं। उनको अपनी प्रसन्नता के लिये जीव की क्या आवश्यकता है? तो कहना चाहिये कि भगवान की पूर्णता एक देशी नहीं होती। वे तो सभी प्रकार से पूर्ण हैं, अतः जिसकी जैसी माँग होती है, उसे वे उसी प्रकार पूर्ण करते हैं। वे पूर्ण काम हैं तो भी अपने आश्रित प्रेमी की माँग पूर्ण करने में उनको आनन्द मिलता है।

जो सर्वसमर्थ नहीं होता, उस मनुष्य के पास जाकर कोई कहे कि 'आप मुझे किसी काम पर रख लीजिये, छोटे–से–छोटा कोई भी काम करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है' तो आवश्यकता न होने पर वह यही कहेगा कि 'मेरे पास अभी कोई काम नहीं है। मैं तुमको नहीं रख सकता' क्योंकि वह इतना समर्थ नहीं है कि सभी को रख सके; परन्तु तो सर्वसमर्थ हैं। उनके पास तो किसी बात की कोई कमी नहीं है। फिर जो एकमात्र उनका प्रेम ही चाहता है, जिसको अन्य किसी प्रकार के सुख की चाह नहीं है, उसको सर्वसमर्थ प्रभु कैसे निराश कर सकते हैं। वे तो स्वयं उसके प्रेमी बनकर उसे अपना प्रेमास्पद बना लेते हैं। यही उनकी असाधारण महिमा है।

जब तक मनुष्य संसार से कुछ लेने की आशा रखता है तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि संसार अनित्य और क्षणभंगुर है। उससे जो कुछ मिलता है, उसका वियोग अवश्यम्भावी है। इस रहस्य को समझकर जो साधक किसी से कुछ नहीं चाहता, सबकी सब प्रकार से सेवा करता है और उसके बदले में कुछ भी नहीं लेता, वह सदैव प्रसन्न रहता है। फिर उसका किसीमें भी राग नहीं रहता तथा सभी उससे प्रेम करते हैं, इससे

उसका कोई विरोध नहीं रहता। अतः वह सर्वथा क्रोध रहित और निर्भय हो जाता है। किसी प्रकार की चाह का न रहना एवं लोभ, क्रोध और भयका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरण की परम शुद्धि है। अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर योगी को योग, विचार शील को बोध और प्रेमी को प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। विचार और प्रेम से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरणमें स्वतः विचार और प्रेम प्रकट होता है। इस प्रकार ये एक–दूसरे के सहायक हैं।

चित्त शुद्धि के लिये यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि साधक किसी का ऋणी न रहे अर्थात् जिससे जो कुछ मिला है, वह उसे वापस कर दे और क्षमा माँग ले। उसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न रहे। अपने से भिन्न वही है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है।

(16)
(विवेक, विश्वास और प्रेम के आदर और सदुपयोग का वर्णन)

पहले यह बात कही गयी थी कि सब प्रकार की चाह का अभाव विचार और प्रेम से होता है। उनमें प्रेम की बात तो पहले कही गयी थी, परन्तु विचार के बारे में विशेष बात नहीं हुई। अतः अब वही कही जाती है।

वास्तव में विवेक, विश्वास और प्रेम–इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। ये एक–दूसरे के सहयोगी हैं। विवेकी पहले जानता है और पीछे मानता है अर्थात् उस पर विश्वास करता है एवं विश्वास करने वाला पहले मानता है और पीछे जानता है।

यदि मनुष्य बुद्धि से विचार करके अपने दोषों को जान ले, उनका त्याग न करे तो केवल जानने से काम नहीं चलता। वैसे ही केवल मानने से भी काम नहीं चलता। अपनी मान्यता के अनुसार जीवन होना आवश्यक है।

विवेक, विश्वास और प्रेम–ये सभी मनुष्यों को प्राप्त हैं। परन्तु प्राप्त विवेक का आदर न करने के कारण मनुष्य जिनका विश्वास नहीं करना चाहिये, जो विश्वास करने के योग्य नहीं हैं, अपने जीवन में जिन पर विश्वास करके बार–बार धोखा खाया है, उन पर तो विश्वास करता है, उनको मानकर उनसे प्रेम करता है और जिनपर विश्वास भी करना चाहिये, उन पर नहीं करता। जो इसका सचमुच अपना है, उसको अपना नहीं मानता और उससे प्रेम नहीं करता। जो कुछ दृश्य है, जिसको मनुष्य इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा देखता है, वह चाहे व्यक्ति के रूपमें हो, चाहे देश, काल और वस्तु के रूप में, सब का–सब अनित्य है, इससे मनुष्य का सम्बन्ध सदा नहीं रहता।

अज्ञानवश मनुष्य इनके संयोग को सुख का हेतु मान लेता है, परंतु विचार करने पर मालूम होता है कि किसी का भी संयोग नित्य सुख देने वाला नहीं है, क्योंकि अपने प्रिय–से–प्रिय मित्र से भी मनुष्य अलग होना चाहता है। कोई भी वस्तु कितनी भी प्रिय क्यों न हो, उससे भी अलग होता है। यदि सचमुच कोई व्यक्ति, वस्तु और देश–काल होता तो पाणी उसे कभी नहीं छोड़ता, परंतु ऐसा नहीं होता। जागत्में जिनके सम्बन्ध से अपने को सुखी समझता है स्वप्न में उनके सम्बन्ध का त्याग कर देता है। सुषुप्तिकाल में जाग्रत् और स्वप्न दोनों के ही दृश्यों से सम्बन्ध नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि सभी संयोग वियोग से युक्त हैं और संयोग की अपेक्षा संयोगका अभाव ही अधिक सुखपद है। यह सभी के अनुभव में आता है।

अतः साधक को चाहिये कि संयोग काल में ही उसके वियोग का दर्शन करके किसी भी व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल या परिस्थिति में आसक्त न हो एवं किसी को अपने सुखका आधार न माने। दृश्य मात्र से सर्वथा असंग हो जाय।

प्रतिदिन मनुष्य सुषुप्तिकाल में सब प्रकार के सम्बन्धों का त्याग करता है परन्तु उसके अन्तःकरण में राग छिपा रहता है, उसका नाश नहीं होता। इस कारण जगने पर सबके साथ पहले की भाँति सम्बन्ध हो जाता है। जब

तक शरीर और समस्त दृश्य वर्ग से सम्बन्ध बना रहता है, तब तक यह उसके सम्बन्ध से अपने को सुख–दुःख का भोक्ता मानता रहता है तथा दृश्य के सम्बन्ध की आसक्ति के कारण बार–बार जन्मता और मरता रहता है।

इसलिये साधक को विचार करके निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ भी देखने, सुनने और अनुभव करने में आता है, शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रियों के सहित किसी भी दृश्य पदार्थ से मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि न तो मेरी और इनकी जातीय एकता है और न स्वामी ही एकता है। अतः इनका और मेरा सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। अज्ञान से माना हुआ है। मैं इनसे सर्वथा असंग नित्य चेतन हूँ। ये सब–के–सब अनित्य और पर–प्रकाश्य हैं।

मनुष्य अज्ञानवश शरीर में अहंभाव तथा जाति, वर्ष, आश्रम क्रिया के साथ अपनी एकता करके मानने लगता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अछूत हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं गृहस्थी हूँ इत्यादि; किन्तु शरीर से अलग होकर कोई भी ऐसा अनुभव नहीं करता। अतः विचारशील साधका सदैव शरीर से और संसार से अपने को सर्वथा असंग कर लेना चाहिये।

जब साधक को यह अनभव हो जाता है कि 'शरीर मैं नहीं हूँ और दृश्य वर्ग से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। 'तब उसमें स्वाभाविक असंगता और निर्वासना का उदय हो जाता है एवं उसका अन्तःकरण अपने–आप शुद्ध हो जाता है। उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं रहता। अन्तःकरण शुद्ध होते ही बोध प्रकट हो जाता है और साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। ध्यान रहे कि किसी–न–किसी प्रकार के संगसे 'अहं' का भास होता है और उसीसे 'मम' की उत्पत्ति होती है एवं 'अहं' और 'मम' से ही चित्त अशुद्ध होता है। अतः चित्त शुद्धिक लिये 'अहं' और 'मम' का नाश करना अनिवार्य है और वह तभी होगा जब दृश्य मात्र से विमुखता प्राप्त होगी। विमुखता प्राप्त होते ही मैं और मेरा, तू और तेरे में बदल जाता है अर्थात् जो वास्तव में है वह शेष रह जाता है। उसी में प्रेम हो सकता है, उसी से योग हो सकता है और उसी का बोध होता है। इन तीनों की एकता ही

वास्तविक एकता है और उसी से प्राणी के सब प्रकार के अभावों का अभाव होता है, जो प्राणिमात्र को प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि विचार पूर्वक चित्त शुद्ध करना ही जीव का परम पुरुषार्थ है।

(17)
(मनुष्य–शरीर की महिमा तथा भगवान के साथ एकताका वर्णन)

साधक को निश्चय पूर्वक समझना चाहिये कि मनुष्य का शरीर विषयों का उपभोग करने के लिये नहीं मिला है। विषयों का उपभोग तो पशु–पक्षी आदि हरेक योनि में यह जीव अनन्त काल से करता आया है, उसके लिये मनुष्य–शरीर की कोई विशेषता नहीं है।

मनुष्य–शरीर मिला है अपनी भूल को मिटाने के लिये अर्थात् जीव ने जो अपने प्रमाद से अनेक प्रकार के दोषों का संग्रह कर लिया है उनको साधन द्वारा नाश करने के लिये। यदि कोई कहे कि भगवान ने जीव में भोगों की इच्छा उत्पन्न ही क्यों की? यदि भोगों की वासना न होती तो प्राणी उन भोगों की प्राप्ति के लिये चेष्टा ही क्यों करता? तो इसका यह **उत्तर** है कि जीव में भोग–वासना ईश्वर ने उत्पन्न नहीं की है। भगवान ने तो इस परम्परागत भोग–वासना को मिटाने के लिये ही कृपा करके मनुष्य–शरीर दिया है। यदि इसमें भोग–वासना पहले न होती तो शरीर देने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जब कोई रोग होता है तभी उसको मिटाने के लिये चिकित्सा की जरूरत होती है। अतः भोग–वासना को मिटाने के लिये ही भोग–वासना के साथ–साथ भगवान ने मनुष्य को योग की, बोध की और प्रेम की लालसा भी प्रदान की है। भोगों का क्षणिक सुख भी किसी–न–किसी प्रकार के संयोग से अर्थात् विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से मिलता है। यह योग की ही झलक है। इसी प्रकार राग में प्रेम की झलक है। प्रेम का ही दूसरा रूप राग या मोह है और अविवेक में विवेक की झलक है, क्योंकि विवेक का सर्वथा अभाव नहीं होता। उसकी कमी में

सन्देह उत्पन्न होता है, जो जिज्ञासा के रूप में बोध का हेतु हो जाता है। जब साधक प्राप्त विवेक के द्वारा अपने बनाये हुए दोषों को दूर कर लेता है तब भोग वासना योग में, राग अनुराग में और अविवेक बोध में बदल जाता है। दोषों की उत्पत्ति और गुणों का अभिमानदृयही चित्त की अशुद्धि है। इसी को मिटाने के लिये साधन है अतः साधक में बोध का, योग का और प्रेम का भी अभिमान नहीं रहना चाहिये। अभिप्राय यह है कि योग हो, परंतु मैं योगी हूँ, ऐसा अभिमान न हो। ज्ञान हो, परंतु मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा अभिमान न हो और प्रेम हो, परंतु मैं प्रेमी हूँ, ऐसा अभिमान न हो।

भगवान से जीव की किसी प्रकार की भी दूरी नहीं है। भगवान और जीव जाति से और स्वरूप से भी एक हैं। दोनों ही नित्य हैं, अतः काल की भी दूरी नहीं है। दोनों एक ही जगह रहते हैं, अतः देश की भी दूरी नहीं है। दोनों का सम्बन्ध भी नित्य है। इतनी निकटता और एकता होते हुए भी जो दूरी की प्रतीति होती है, वह केवल मात्र अभिमान के कारण है।

जब कभी भक्त के मन में किसी प्रकार के अभिमान की छाया आ जाती है, तब उसका नाश करने के लिये भगवान् उसके सामने से छिप जाया करते हैं। रास क्रीड़ा करते समय जब गोपियों के मन में यह बात आयी कि 'अब तो' याम सुन्दर हमारे अधीन हो गये, हम जैसा कहती हैं, ये वैसा ही करते हैं। 'बस, यह मन में आते ही उनके सामने से भगवान अन्तर्धान हो गये। जिसके मन में अभिमान नहीं आया था, उसको अपने साथ ले गये। आगे चलकर जब उसके मन में अभिमान आया, वह कहने लगी कि 'मुझसे अब चला नहीं जाता। मुझे कन्धे पर उठा लीजिये।' तब उसको भी वहीं छोड़कर अन्तर्धान हो गये। पीछे से जब श्यामसुन्दर को खोजने वाली अन्य गोपियाँ उससे मिलीं और वहाँ भी श्यामसुन्दर नहीं मिले, तब वे सब श्यामसुन्दर के विरहसे व्याकुल होकर उनको वन में सब ओर खोजने लगीं। लता–पत्ता, पशु–पक्षी आदि हरेक प्राणी से पूछने लगीं कि 'तुमने श्यामसुन्दर को देखा होगा। वे किधर गये' इतने पर भी जब श्यामसुन्दर नहीं मिले, तब जहाँ से लीला आरम्भ हुई थी, वहीं आकर

विरह–व्याकुलता से उनमें तन्मय हो गयीं और उन्हीं की लीला का अभिनय करने लगीं। जब उस व्याकुलता के दुःख से उनका अभिमान गल गया, तब श्यामसुन्दर वहीं प्रकट हो गये। वे जब अन्तर्धान हो गये, तब भी वहीं थे। कहीं गये नहीं थे, पर गोपियों ने उनको जान नहीं पाया। प्रकट होने पर जब गोपियाँ उन्हें उलाहना देने लगीं, तब उन्होंने यही कहा कि श्मेरी प्यारी सखियो ! मैं तो सदैव तुम्हारे ही पास था। कहीं दूर नहीं गया था। मैं तो तुम्हारे प्रेम रस की वृद्धि के लिये ही छिपा था इत्यादि।' अतः साधक को कभी किसी प्रकार का भी अभिमान नहीं करना चाहिये।

भगवान् जो जगत की रचना करते हैं, उसमें भगवान का जीवों को नाना भाँति से रस प्रदान करना और स्वयं उनके प्रेम–रस का आस्वादन करना कृयही उद्देश्य है। विचारशील साधक का चित्त शुद्ध होने पर उसको बोध प्राप्त होता है और उसके बाद प्रेम की प्राप्ति होती है। कोई कहे कि बोध के बाद प्रेम की प्राप्ति कैसी? उसका तो शरीर–मन आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। फिर प्रेम कौन किससे और कैसे करता है? इसका **उत्तर** यही है कि प्रेमीका मन, इन्द्रियाँ आदि कोई भी भौतिक नहीं रहते। उसके मन–बुद्धि आदि सभी दिव्य और चिन्मय होते हैं' क्योंकि भगवान् स्वयं जिस चिन्मय प्रेम की धातु से बने हैं, उसी से उनका प्रेमी उनका दिव्य धाम और सब कुछ बने हैं। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं है। इसलिये बोध के बाद प्रेम होना असंगत नहीं है। इसी में तो सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म लीलामय परमेश्वर के सगुण–साकार रूप की सार्थकता है। प्रेम के अतिरिक्त सगुण–ब्रह्म के होने में कोई कारण ही नहीं है।

प्रेम अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं होता; क्योंकि प्रेमी और प्रेम की लालसा एवं प्रियतम सभी नित्य और असीम हैं, अतः उनके मिलन में और वियोग में सदैव आकर्षण रहता है तथा नित्य नया प्रेम बना रहता है।

भगवान् जीव के नित्य साथी हैं। कभी उससे अलग नहीं होते तथापि प्राणी उनको जानता नहीं, भूल गया है। जैसे किसी की जेब में घड़ी पड़ी हो और वह उसे भूल जाय तो अपने पास होते हुए भी वह उससे दूरी का

अनुभव करता है। जब तक उसे यह मालूम नहीं होता कि घड़ी मेरे पास मेरी जेब में ही है, तब तक वह उसे खोजता रहता है और उसके बिना दुःखी होता है; परन्तु जब उसको बोध हो जाता है, तब वह घड़ी उसे मिल जाती है। उसी प्रकार यह जीव जबसे भगवान को भूल गया है, तबसे अपने को उनसे अलग मानकर दुःखी हो रहा है।

यह भूल मिटाकर जो अपने प्रेमास्पद के सम्बन्धका स्मरण हो जाना है, यही वास्तविक स्मरण है। अतः नाम–जप आदि साधन करते समय भी साधक को यह नहीं भूलना चाहिये कि 'यह नाम मेरे प्रियतमका है।'

चित्त–शुद्धि के लिये साधक को चाहिये कि या तो विकल्प रहित विश्वास करके यह माने कि 'मेरी और प्रभु की जातीय एकता है। अतः वे ही मेरे हैं। अन्य कोई मेरा नहीं है।' और यह मानकर एकमात्र प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम की लालसा प्रकट करे अथवा शरीर और संसार में माना हुआ जो 'मैं और मेरापन' है उसे विचार के द्वारा दूर करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्म से अपने स्वरूप की एकताका बोध प्राप्त करे।

जातीय एकता और स्वरूप की एकता का विश्वास और क्रोध होने पर ही प्रेम तथा बोध की प्राप्ति सम्भव है। अन्य प्रकार से नहीं।

(18)
(मान्यता के अनुसार कर्तव्य–पालन के द्वारा मान्यता से असंग होने का प्रकार तथा अभिमान से हानि मिले हुए के सदुपयोग से और अप्राप्त की कामना के त्याग से वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति)

पहले यह बात कही गयी थी कि चित्त–शुद्धि के लिये ईश्वर के साथ जातीय एकता मानना अथवा स्वरूप की एकता को जानना अनिवार्य है। आज उसी पर विचार करना है।

यह नियम है कि प्राणी जिसके साथ 'मैं' को मिला देता है, वही सत्य प्रतीत होने लगता है और अपने से भिन्न समझकर जिसके साथ अपनत्व

का सम्बन्ध मान लेता है, उसमें आसक्ति हो जाती है, जिसको पराया समझ लेता है, उसमें द्वेष हो जाता है।

मनुष्यका 'मैं' भाव जगत में अनेक प्रकार से बँटा हुआ है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं महत्तर हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं हिन्दुस्तानी हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं अमेरिकन हूँ– इस प्रकार शरीर, जाति, देश, वर्ण, आश्रम और परिस्थिति आदि के साथ 'मैं' को मिलाकर मनुष्य उनमें सद्‌बुद्धि कर लेता है। उन्हीं को अपना जीवन मानने लगता है। इस कारण उसको यह बोध नहीं होता कि वास्तव में मेरी और इनकी न तो स्वरूप से एकता है और न जातीय एकता है तथा यह भी नहीं जानता कि इनकी स्वीकृति मैंने किसी प्रकार के साधन का निर्माण करके इनसे ऊपर उठने और अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये की है।

यद्यपि हरेक प्रकार की मान्यता के साथ उससे सम्बन्ध रखने वाला विधान रहता है। जैसे कोई मानता है कि मैं हिन्दू हूँ, तो हिन्दू मानने वाले के लिये जो हिन्दू धर्म में उसके वर्ण, आश्रम के अनुसार कर्तव्यका विधान किया गया है, उसे भी मानना चाहिये। यदि उसे मान ले तो साधक वर्तमान परिस्थिति की आसक्ति से रहित होकर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ जाय, इसमें कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि मनुष्य को जो परिस्थिति प्राप्त होती है, वह उसको सदैव अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये ही होती है, परन्तु इस रहस्य को न समझने के कारण प्राणी उसका सदुपयोग नहीं करता।

यही कारण है कि आज जो अपने को हिन्दू कहता है, वह हिन्दूपन का अभिमान करके दूसरों के साथ राग–द्वेष कर लेता है अर्थात मानने लगता है कि जो हिन्दू हैं, वे तो अपने हैं, जो हिन्दू नहीं हैं, वे पराये हैं। अतः अपने को हिन्दू मानने वालों में आसक्ति और दूसरों में द्वेष करने लगता है। यदि वह अपने को हिन्दू मानने के साथ–साथ उसके विधान को भी मानता तो **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** के अनुसार सबमें प्रेम करता, किसी से भी राग–द्वेष नहीं करता। इसी प्रकार सब में समझ लेना चाहिये।

महापुरुषों ने जब जो सम्प्रदाय चलाया है, वह मनुष्य को उन्नत बनाने के लिये साधन रूप बनाया है। अतः हरेक सम्प्रदाय, हरेक प्रकार की मान्यता, अपने–अपने अधिकार, अपनी–अपनी योग्यता और प्रीति के अनुसार उसे साधन मानकर चलने वाले के लिये हितकर है। इस दृष्टि से सभी सम्प्रदाय और सभी मान्यता आदर करने के योग्य हैं।

परन्तु जब मनुष्य शरीर, जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, देश और परिस्थिति के साथ एकता मानकर उनमें अभिमान कर लेता है एवं उसके अनुसार अपने को नाना भावों में बाँधकर राग–द्वेष करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है।

इसलिये साधक को चाहिये कि विचार और विश्वास के द्वारा यह निश्चय करे कि मैं शरीर नहीं हूँ। यह मनुष्य–शरीर मुझे भगवान की कृपा से साधन के लिये मिला है। यह निश्चय करके शरीर में या किसी प्रकार की परिस्थिति में सद्भाव न करे। उसे अपना जीवन न माने। जो कुछ प्राप्त है, उसका सदुपयोग करे। प्राप्त का सदुपयोग करने से और अप्राप्त की चाह न करने से राग की निवृत्ति हो जाती है। राग निवृत्त हो जाने पर द्वेष अपने–आप मिट जाता है और राग–द्वेष का अभाव हो जाने से निर्वासना आ जाती है। फिर किसी प्रकार की चाह का उदय नहीं होता। यही चित्त की शुद्धि है। चित्त–शुद्ध होने पर योग, बोध और प्रेम अपने–आप प्रकट हो जाते हैं।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन में मनुष्य को जहाँ कहीं सत्यता और प्रियता की प्रतीति हो रही है, उसका मूल कारण उपर्युक्त माना हुआ अभेदभावका और भेदभावका सम्बन्ध है। दूसरा कुछ नहीं। यदि शरीर आदि से अभेद के सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया जाय तो उसकी सत्यता और जडता चिन्मयता में बदल जाती है अर्थात् मैं शरीर हूँ, यह भाव मिट जाता है। इसके मिटते ही देह धर्म में जो आसक्ति हो गयी है, वह मिट जाती है। उसके मिटते ही शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों में सत्यता की गन्ध मात्र भी शेष नहीं रहती। उसके मिटते ही राग वैराग्य में तथा भोग

योग में बदल जाते हैं। फिर जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसका बोध और उससे प्रेम स्वतः हो जाता है, यही प्राणी की वास्तविक आवश्यकता है जिसकी पूर्ति अत्यन्त आवश्यक और स्वाभाविक है, उससे निराश होना एकमात्र प्रमाद के सिवा और कुछ नहीं है; क्योंकि स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति करना ही प्राणी का पुरुषार्थ है।

(19)

(पशु–पक्षी आदिसे मनुष्य–शरीरकी विशेषता दूसरों का हित करनेमें अभिमान का त्याग और उसपर डाक–पिउन का उदाहरण, व्यवहार में क्या भाव रखना चाहिये – चाहके दो भेद; भगवान के प्रेम की चाहका महत्त्व)

पहले कहा गया था कि प्राणी जिसके साथ 'मैं' को मिला लेता है उसे वही सत्य प्रतीत होने लगता है। इस साधक को विचार करना चाहिये कि मैं जो अपने को मनुष्य मानता हूँ तो पशु–पक्षी आदि अन्य प्राणियों की अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है। आहार, निद्रा, मैथुन आदि विषय भोगों का सुख तथा उनके वियोग का और मरने का भय, या सब तो उनमें भी होते हैं वरं मनुष्य की अपेक्षा भी उनका विषय–सेवन अधिक नियमित और प्रकृति के अनुकूल है।

विचार करने पर मालूम होगा कि उनकी अपेक्षा मनुष्य में विवेक शक्ति अधिक है। उसके द्वारा वह यह समझ सकता है कि मैं वास्तव में कौन हूँ, मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इत्यादि। यदि मनुष्य इस विवेक शक्ति का आदर न करे, उसका सदुपयोग न करके भोगों के सुख को ही अपना जीवन मान ले तो वह पशु–पक्षियों से भी गया बीता है; क्योंकि पशु–पक्षी आदि तो कर्मफल–भोग के द्वारा पूर्वकृत कर्मो का क्षय करके उन्नति की ओर बढ़ रहे हैं, किन्तु विवेक का आदर न करने वाला मनुष्य तो

उलटा अपने को नये कर्मों से जकड़ रहा है। अपने चित्त को और भी अशुद्ध बना रहा है।

अतः साधक को चाहिये कि प्राप्त विवेक का आदर करके उसके द्वारा इस बात को समझे कि यह मनुष्य–शरीर उसे किस लिये मिला है, इसका क्या उपयोग है। विचार करने पर मालूम होगा कि यह साधन–धाम है। इसमें प्राणी चित्त शुद्ध करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

चित्त–शुद्धि के लिये यह आवश्यक है कि साधक ऐसे संकल्प न करे, जिनकी पूर्ति किसी दूसरे पर अवलम्बित हो, जिन्हें वह स्वयं पूरा न कर सकता हो, क्योंकि जो मनुष्य दूसरों के द्वारा उपार्जित वस्तुओं से या उनके परिणाम से अपने संकल्पों की पूर्ति चाहता है एवं करता और कराता रहता है उसके संकल्प चाहे कितने ही शुभ क्यों न हों, उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। अपने संकल्पों को दूसरों के द्वारा पूरा कराने वाला उनका ऋणी हो जाता है एवं उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है और पराधीनता की वृद्धि होती है। पराधीन प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकता। अतः दूसरों पर अपना कोई अधिकार नहीं मानना चाहिये।

अपने द्वारा पूरे किये जाने योग्य आवश्यक संकल्पों को पूरा कर देना चाहिये; किंतु उनकी पूर्ति के रस का उपभोग नहीं करना चाहिये। इसके उपभोग से राग की वृद्धि होती है और अन्तःकरण अशुद्ध होकर उसमें पुनः संकल्पों की बाढ़ आ जाती है।

साधक को हरेक प्रवृत्ति द्वारा दूसरों के अधिकार और संकल्पों की रक्षा और पूर्ति करते रहना चाहिये। उसमें भी ऐसा अभिमान कभी नहीं करना चाहिये कि मैंने दूसरों का कोई उपकार किया है, प्रत्युत यह समझना चाहिये कि इन्हीं के लिये प्राप्त हुई शक्ति और पदार्थ मैंने इनको दिये हैं। इसमें मेरा कुछ नहीं है। जैसे कोई डाकिया डाकघर से प्राप्त रुपयों को या पारसल को पाने वाले व्यक्ति के पास पहुँचा देता है तो उसमें उसका उस व्यक्तिपर कोई अहसान नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि अपना कर्तव्य ठीक–ठीक पालन करने के नाते उसे सरकार की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करने से साधक को भी भगवान की प्रसन्नता प्राप्त होती है

दूसरों के अधिकार की रक्षा करने के लिये अर्थात् उनके मन में उत्पन्न संकल्प की पूर्ति द्वारा उनकी प्रसन्नता के लिये साधक को कोई आवश्यक वस्तु लेनी पड़े या कोई उनके द्वारा किया हुआ काम स्वीकार करना पड़े तो वह चित्त की अशुद्धि का हेतु नहीं है। उसमें साधक को यह भाव रखना चाहिये कि यह शरीर भी भगवान का ही है। अतः भगवान ने इनके द्वारा अपने–आप जो इस शरीर के लिये आवश्यक वस्तु प्रदान की है, उसे इनसे लेकर, इसके उपयोग में लगा देना है, यह भी देना ही है; परंतु इसमें भी उपभोग के रस का संग नहीं होना चाहिये, क्योंकि रस का उपभोग करने से अपने शरीर में अहंभाव और जिनके द्वारा संकल्पों की पूर्ति की जाती है, उन व्यक्तियों में आसक्ति हो जाती है। इससे चित्तमें अशुद्धि बढ़ती है।

प्राप्त शक्ति का उपयोग अपने संकल्पों की पूर्ति में तो पशु–पक्षी भी करते हैं। वही काम यदि मनुष्य भी करता रहे तो उसमें मनुष्य–शरीर की क्या विशेषता हुई। अतः साधक को समझना चाहिये कि जिस प्रकार की जो कुछ भी शक्ति–भगवान ने दूसरों को देने के लिये अर्थात उनकी प्रसन्नता और हित में लगाने के लिये प्रदान की है, उसका उपयोग भगवान के आज्ञानुसार कर देना ही मनुष्यता है।

इतना करने पर भी सर्वथा चित्त शुद्धि नहीं होती; क्योंकि जब तक शरीर में अहंता–ममता रहती है, तब तक किसी–न–किसी प्रकार का रस अर्थात् आसक्ति रहती है। आसक्ति के रहते हुए संकल्पों का जाल नहीं टूटता। किसी–न–किसी प्रकारकी चाह बनी रहती है। यह चाह ही चित्त की अशुद्धि है। अतः साधक को अहंता–ममता का त्याग कर देना चाहिये।

मनुष्य की चाह के दो भेद होते हैं–एक तो दृश्य की चाह, जो कि उसका पतन करने वाली है। जैसे नदियों में नीचे की ओर बहने वाला जल समुद्र में पहुँच जाता है। वहाँ से बादल बनकर बरसता है और झरनों तथा

नालों के द्वारा पुनः नदी में आकर समुद्र में चला जाता है। इसी प्रकार इस दृश्य की चाह करने वाला मनुष्य भी जन्म–मृत्यु के चक्कर में पड़कर नाना योनियों में भटकता रहता है। दूसरी उस प्रेमास्पद की चाह जिससे यह दृश्यवर्ग–सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। जो इसका प्रकाशक और इसे सत्तास्फूर्ति देने वाला है। यह चाह साधक को उस प्रेमास्यद से मिला देती है अर्थात् शरीर और संसार में अहंता–ममता न रहने के कारण जिस साधक की दृश्य जगत में कहीं भी आसक्ति नहीं रही है, भोग वासना न रहने के कारण चाह का सर्वथा अभाव हो गया है, जो एकमात्र भगवान पर विश्वास करके उन्हीं को अपना मानता है एवं जिसके मन–बुद्धि–अहंभाव आदि एकमात्र भगवत्प्रेम के रूप में बदल गये हैं, भगवान का प्रेम ही जिसका जीवन है, वह अपने प्रेमास्पद को पा लेता है और नित्य–नव अनन्त प्रेम रस का अनुभव करता रहता है।

जो समस्त दृश्यवर्ग की चाह की निवृत्ति कर देता है, उस चाह रहित साधक को जो दिव्य आनन्द मिलता है, वह चाह युक्त प्राणी को चाह की पूर्ति में कभी नहीं मिलता। यह सन्तों के अनुभवकी बात है। जिसको विश्वास न हो, वह अधिक नहीं तो दो–चार मिनट चाह रहित होकर देख ले। चाह रहित होने के काल में उसे वह सुख मिलेगा, जो उसके जीवन में चाह की पूर्ति से कभी नहीं मिलाय क्योंकि चाह की पूर्ति में वास्तविक सुख नहीं मिलता बल्कि सुख की प्रतीति होती है, जो दूसर ही क्षण नष्ट हो जाती है।

(20)
(गुणों के अभिमान से हानि और उसके त्याग का महत्त्व)

चित्त की अशुद्धि के अनेक कारण होते हैं, और उसकी शुद्धि के उपाय भी अनेक हैं। उनमें से एक प्रधान कारण अभिमान भी है। अभिमान उसे कहते हैं, जिससे मनुष्य किसी प्रकार के गुण के साथ अपनी एकता करके अपने को दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने लगता है।

इस अभिमान के कारण मनुष्य जिनमें उस गुण का अभाव या कमी देखता है, उनको तुच्छ समझकर उनसे घृणा करने लगता है और जिनमें अपने से अधिक देखता है, उनसे ईर्ष्या करने लगता है। इस प्रकार घृणा और ईर्ष्या के कारण उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है।

गुण के अभिमान से मनुष्य को अपने दोषों का दर्शन नहीं होता। अतः वह उनको हटा नहीं सकता। गुणों का अभिमान स्वयं ही एक बड़ा भारी दोष है। उसके रहते हुए दूसरे दोषों का नाश कैसे किया जा सके। सन्तों का कहना है कि अभिमानी योगी से पश्चात्ताप करने वाला पापी अच्छा है; क्योंकि अच्छाई का अभिमान ही बुराई का मूल है।

जो मनुष्य यह समझता है कि मैं सत्यवादी हूँ, उसमें कहीं–न–कहीं झूठ छिपा हुआ है। यदि वह सचमुच सत्यवादी हो तो उसे यह भास ही नहीं होना चाहिये कि मैं सत्यवादी हूँ। अपितु सत्य बोलना उसका जीवन बन जाना चाहिये। जो गुण साधक का जीवन बन जाता है उसमें साधक का अभिमान नहीं होता। वह उसके कारण अपने किसी प्रकारकी विशेषता का अनुभव नहीं करता। जब तक किसी गुण का गुण बुद्धि से भास होता है, उसमें रस का अनुभव होता रहता है, तब तक मनुष्य में अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति होती रहती है, अतः गुण के अभिमान से चित्त अशुद्ध होता रहता है।

गुण के अभिमान से भेद बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जो समझता है। कि मैं ईश्वर को मानता हूँ, आस्तिक हूँ और अमुक आदमी ईश्वर और धर्म को नहीं मानता, वह नास्तिक है। इस भेद भाव के कारण जिसकी ईश्वर को न मानने वाले में तुच्छ बुद्धि और द्वेष हो जाता है, वह उससे प्रेम नहीं कर सकता। बिना प्रेम के एकता नहीं होती। परन्तु जो सच्चा। आस्तिक होता है, उसको किसी में भी घृणा या द्वेष नहीं होता। वह तो सब में अपने प्रेमास्पदका दर्शन करता है। अतः सबसे प्रेम करता है।

साधक को विचार करना चाहिये कि मेरे स्वामी का कैसा स्वभाव है। वे मुझसे क्या आशा रखते हैं। क्या उनको न मानने वाले को वे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि तत्त्वों के उपभोग में उतनी ही स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करते, जितनी कि एक आस्तिक को करते हैं, यदि भगवान् उसके साथ भेद करें तो एक क्षणभर जीवित रहना भी उसके लिये असम्भव हो जाय, किन्तु वे ऐसा नहीं करते। अतः वे अपने भक्त को भी वैसा ही आदेश देते हैं।

अपने में साम्य वादी पन का अभिमान रखने वाला यदि उनसे द्वेष करता है, जो साम्यवादी नहीं हैं तो वह द्वेष करने वाला क्या सच्चा साम्यवादी है? क्या उसमें समता है?

इसी प्रकार हरेक गुण के अभिमान में समझ लेना चाहिये। गुण के अभिमानी में गुण की पूर्णता नहीं होती। जिसमें गुण की पूर्णता होती है, उसमें अभिमान नहीं होता—यह इसकी कसौटी है।

गुण के अभिमानी को दूसरे में दोष—ही—दोष प्रतीत होते हैं। इस कारण वह अपने दोषों की ओर नहीं देखता। उसमें गुण के अभिमान के कारण दोषों की पुष्टि होती चली जाती है। अतः साधक को चाहिये कि अपने दोषों का निरीक्षण करे और उनका त्याग करे एवं पुनः उनको उत्पन्न न होने दे तथा गुणों के अभिमान को दूसरे दोषों से भी बढ़कर दोष समझकर उसको कभी उत्पन्न न होने दे।

जो साधक गुणों में अभिमान नहीं करता, उनका रस लेकर उनमें बँधता नहीं और दोषों को उत्पन्न नहीं होने देता, उसका चित्त शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।

कर्म में और मान्यता में भेद रहते हुए भी स्नेह की एकता होनी चाहिये। कर्म में और मान्यता मै भेद होना अनिवार्य है। इसे कोई मिटा नहीं सकता। अतः कर्म के भेद को लेकर या मान्यता के भेद को लेकर स्नेह में भेद करना अर्थात किसी में राग और किसी में द्वेष करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। इससे चित्त में अशुद्धि आती है। अभिमान अधिकार की

लालसा को जाग्रत करता है। उससे वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, जो परतन्त्रता की मूल हैं। अपने कर्तव्य पालन से दूसरों के अधिकार की रक्षा करना ही वास्तव मै अधिकार है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है। जो अपने अधिकार को भूलकर दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हैं, उनका हृदय प्रेम से भर जाता है। उनको निर्वासना प्राप्त होती है। वासना रहित होना ही 'मुक्ति' और हृदय का प्रेम से भर जाना ही भक्ति' है। सच्चा ईश्वरवादी अनीश्वरवादी में भी ईश्वर का दर्शन करता है। सच्चे साम्यवादी के हदय में सबके प्रति अगाध स्नेह रहता है।

जो मान्यता तथा जो सिद्धान्त मनुष्य को स्नेह से दूर करके राग–द्वेष में आबद्ध करते हैं, वे चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, उनसे चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त शुद्ध करने के लिये तो साधक को अपना हृदय प्रेम से भरना होगा और सभी वासनाओं का अन्त करना होगा। वह तभी सम्भव है जब साधक सब प्रकार अभिमान से रहित होकर अपने अधिकार को भूल जाय। यही चित्त–शुद्धि का सुन्दर और सुगम उपाय है तथा चित्त शुद्ध होने पर ही साधक वास्तविक योग, बोध तथा प्रेम को प्राप्त कर सकता है। चित्त शुद्ध करने में साधक परतन्त्र नहीं है; क्योंकि चित्त शुद्धि अपने बनाये हुए दोषों के त्याग से होती है, जिसके करने में सभी साधक सर्वदा स्वतन्त्र हैं।

(21)

(प्रमाद, आलस्य और अकर्तव्य का तथा व्यर्थ चेष्टा का त्याग करके संयम पूर्वक कर्तव्यपरायणता – गुण के अभिमान से गुण दोष में बदल जाता है; जो लालच और भय से रहित हो वही गुण वास्तविक होता है – साधक को नेता, गुरु, प्रचारक, उपदेशक नहीं बनना चाहिये; अपने दोषों का त्याग करने के उद्देश्य से परस्पर विचार–विनिमय करना अच्छा है – 'साधन–निर्माणकी कसौटी' साधन में प्रियता और नामजप का महत्त्व)

पहले कहा गया कि श्रेष्ठ गुणों का अभिमान भी चित्त की अशुद्धि का कारण है, उसी पर पुनः विचार किया जाता है। हरेक प्राणी आदर और सम्मान चाहता है, परन्तु जब तक मनुष्य करने योग्य काम को जिस प्रकार कुशलता पूर्वक करना चाहिये, उस प्रकार पूरा नहीं करता और न करने योग्य व्यर्थ काम को करता रहता है, तब तक उसको आदर नहीं मिलता। आदर उसी को मिलता है जो कर्तव्य परायण और संयमी होता है। इसलिये साधक को कर्तव्य परायण होना चाहिये अर्थात करने योग्य काम को कुशलतापूर्वक पूरा कर देना चाहिये। उसके करने में न तो किसी प्रकार का प्रमाद करना चाहिये और न आलस्य करना चाहिये। जब तक मनुष्य आलस्य और प्रमाद का त्याग नहीं करता, तब तक कोई भी काम सर्वांग सुन्दर नहीं हो सकता। इसी प्रकार साधक को कोई भी ऐसा काम नहीं करना चाहिये। जिसका करना आवश्यक न हो और जिसमें किसी का हित निहित न हो। मन और इन्द्रियों को व्यर्थ चेष्टा न होने देने का नाम ही संयम है। संयमी मनुष्य के नेत्र खुले रहते हैं, परंतु जिसको नहीं देखना चाहे, वह वस्तु उसे नहीं दीखती। कान खुले रहते हुए भी जिसको नहीं सुनना चाहिये, वह सुनायी नहीं देता। इतने पर भी साधक को यह अभिमान नहीं होना चाहिये कि मैं कर्तव्यपरायण हूँ या मैं संयमी हूँ, क्योंकि गुण का अभिमान होने से वह गुण दोष के रूप में बदल जाता है। उसमें वास्तविकता नहीं रहती। दिखावा रह जाता है अर्थात् वह दम्भाचार का रूप धारण कर लेता है।

साधक वही है जिसका हरेक गुण जीवन बन जाता है, किसी भी गुण में जिसका अभिमान नहीं रहता तथा जो गुणों का आचरण किसी लालच या भय से नहीं करता, क्योंकि आदर–सम्मान के लालच से या अनादर के भय से किया हुआ आचरण सच्चा आचरण नहीं होता। अतः वह चित्त को शुद्ध नहीं होने देता।

जो मनुष्य ऊपर के आचरणों में सुन्दर वस्त्रों का पहनना छोड़ देता है, पलंग के सुन्दर बिछौने को काम में नहीं लाता, सब प्रकार सादगी से

रहता है; परंत भीतर चित्त में उनकी वासना है या उनके त्याग का अभिमान है, उस सादगी से उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। उससे तो अपने में त्याग का अभिमान और दूसरों से घृणा उत्पन्न हो जाने के कारण चित्त अशुद्ध रहता है।

साधन का दम्भ करने वाले से साधन न करने वाला अच्छा है, क्योंकि साधन न करने वाला तो भविष्य में साधक बन सकता है, परन्तु जो दम्भी मनुष्य सम्मान के लिये या अन्य किसी कारण से दिखाऊ साधन करता है और अपने को साधक दिखलाना चाहता है, उसका सुधार होना कठिन है।

अतः चित्त की शुद्धि के लिये साधन करने वाले साधक को चाहिये कि साधन का अभिमान न करे और उसमें किसी प्रकार का दिखौआपन न आने दे।

मनुष्य नेता या प्रचारक बन जाता है या उपदेष्टा बन जाता है, उसका चित्त शुद्ध होना कठिन है, क्योंकि दूसरों के दोषों को देखना उसके लिये आवश्यक काम हो जाता है। दूसरों के दोषों को बिना देखे उनको दूर करने का उपाय वह श्रोताओं को कैसे बतायेगा। इसी प्रकार अपने दोषों को भी वह प्रकट नहीं कर सकता, क्योंकि हरेक प्रकार से अपने दोषों को छिपाना उसका स्वभाव बन जाता है। दूसरों के दोषों को देखना, अपने में गुणों का अभिमान होना और उन गुणों का प्रदर्शन करना तथा अवगुणों को छिपाना—ये सभी चित्त की अशुद्धि के कारण हैं। इसीलिये शास्त्रों में नेता या गुरु बनने को पतन का हेतु माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह काम महापुरुषों के ही उपयुक्त है।

साधक को इस बखेड़े में कभी नहीं पड़ना चाहिये। अपने दोषों को सामने रखकर परस्पर विचार—विनिमय करना, अपने सुधार के लिये परस्पर परामर्श करना—नेतागिरी या उपदेष्टा बनना नहीं है। अतः साधक को जब कोई सुधार की बात दूसरों के सामने कहने का मौका प्राप्त हो जाय, तब उसमें अपने सुधार का लक्ष्य रखते हुए ही उसे बोलना चाहिये। जो साधक अपने में यह अभिमान रखता है कि 'मैं सत्संगी हूँ' दोषों को किस प्रकार

दूर करना चाहिये, किस प्रकार सद्‌गुण और सदाचार का पालन करना चाहिये इस बात को मैं समझता हूँ, दूसरे नहीं समझते। इस भाव को लेकर जो दूसरों के दोषों को देखता रहता है और उनको दूर करने के लिये दूसरों से कहता रहता है उसका चित्त अनेक प्रकार से कोशिश करते रहने पर भी नहीं हो पाता। यही कारण है कि वह अनेक वर्षों तक सत्संग करते हुए भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

जब तक मनुष्य को अपना साधन भार रूप प्रतीत होता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हुई। जैसे सत्संग में जाता है तो या तो ठीक निश्चित समय पर जाता ही नहीं। जाता है तो सत्संग की बातों को ध्यानपूर्वक सुनता नहीं। शरीर सत्संग में बैठा है, मन कहीं दूसरा ही काम कर रहा है। इसी प्रकार जप–ध्यान आदि साधनों में भी मन नहीं लगता। तब तक उसे समझना चहिये कि मेरे साधन का निर्माण नहीं हुआ। जो साधन मैं कर रहा हूँ, वह मेरी योग्यता और रुचि के अनुकूल नहीं है।

जो साधन साधक को अपना जीवन प्रतीत होता हो, जिसके बिना उसे चौन नहीं पड़ता, साधन किये बिना रहा नहीं जा सकता, जीवन से भी साधन अधिक प्रिय हो जाता है, साधनोपयोगी हरेक काम ठीक समय पर करने में नित्य नया उत्साह और प्रेम बढ़ता रहता है, तब समझना चाहिये कि अब प्रभु की ओर महापुरुषों की कृपा से मेरे साधन का निर्माण हुआ है। सच्चे साधक में कभी भी साधन का अभिमान नहीं होता और उसे किसी भी अवस्था में साधन भार रूप नहीं प्रतीत होता, यह नियम है।

साधन कोई भी छोटा–बड़ा नहीं होता, किंतु उसमें प्यार होना चाहिये और उसे पूरी शक्ति लगाकर उचित ढंग से करना चाहिये। मान लो, किसी ने यह निश्चय किया कि मैं तो केवल एक बार प्रभु का नाम लूँगा और ठीक चार बजे प्रातःकाल लूँगा। इस निश्चय के अनुसार यदि वह एक सेकेंड भी काल का व्यतिक्रम न करके प्रतिदिन प्रातः काल ठीक चार बजे प्रभु का नाम एक बार प्रेम पूर्वक ले लेता है और प्रभु के प्रेम में सराबोर हो जाता है तो वह एक बार लिया हुआ नाम ही उसका उद्धार कर देगा। जिस

साधक का यह निश्चय है कि एकादशी को मरने वाले की सद्गति होती है, अतः मेरो मृत्यु उसी दिन होगी, तो वह ठीक उसी दिन मरेगा। जिस साधक का भगवान के ध्यान में विश्वास और प्रेम है एवं ठीक नियमित समय पर प्रेम पूर्वक वह ध्यान करता है तथा उसकी यह इच्छा है कि मैं ध्यान करता हुआ ही मरूँ, तो वह ध्यान करता–करता ही मरेगा। मनुष्य के विश्वास पूर्वक किये हुए संकल्प में अद्भुत शक्ति होती है। पर वह जो कुछ करे उसे सांगो पांग सुन्दर–से–सुन्दर प्रेम पूर्वक करना चाहिये।

जो लोग भगवान का नाम–जप एवं चिन्तन करते हैं और चिन्तन या कीर्तन करते समय जब कभी उनको कुछ रस मिल जाता है तो उसी में सन्तोष कर लेते हैं और साधन की सफलता मान लेते हैं, वे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। साधन में तो नित्य नया उत्साह और व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये। जिनको अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया है, जो सब प्रकार से पूर्ण हैं, उनके लिये तो कुछ कहना नहीं बनता। वे तो पूज्य हैं। भगवान के ही सदृश या भगवान के भी भगवान् हैं, परंतु जब तक साधक और साधन का प्रसंग है, तब तक साधक के जीवन में कभी किसी भी अवस्था को लेकर सन्तोष नहीं होना चाहिये। उसके हृदय में तो प्रति दिन **उत्तरो**त्तर नित्य नया उत्साह, नित्य नयी व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये।

किसी भी साधन की सफलता उसके आगे की नवीन साधना को उत्पन्न कर देती है। जब तक कुछ भी करना शेष है, तब तक साधन में सन्तोष आ जाना साधन में शिथिलता उत्पन्न करता है, जो वास्तव में असावधानी है। ज्यों–ज्यों साधक साधन से अभिन्न होता जाता है, त्यों–त्यों साध्य के लिये परम व्याकुलता तथा उत्साह बढ़ता रहता है। इसी में साधन की सफलता है।

(22)
(साधन में उत्साह और व्याकुलता दोनों रहना चाहिये – बुद्धि–बल आदि के सदुपयोग की प्रक्रिया)

यदि कोई कहे कि उत्साह और व्याकुलता दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं? तो कहना होगा कि जिसके पाने की तीव्र अभिलाषा होती है उसके मिलने में ज्यों–ज्यों देर होती है, त्यों–ही–त्यों व्याकुलता बढ़ती है और उसके पाने की आशा रहती है इस कारण उत्साह बढ़ता रहता है। जैसे किसी को किसी महात्मा से मिलने के लिये या किसी देव–विग्रह का दर्शन करने के लिये किसी निश्चित स्थान पर जाना है। वहाँ जाने के लिये जिसकी तीव्र अभिलाषा है और किसी विघ्न के कारण जाने में विलम्ब हो रहा है, उस समय उस विलम्ब के कारण तो उसकी व्याकुलता बढ़ती रहती है और वहाँ जाने से अभिलाषा पूर्ण होने की उमंग में उत्साह बढ़ता रहता है। अतः वह सब प्रकार की कठिनाइयों का सामना करता हुआ भी अपने अभीष्ट की ओर चल पड़ता है। उत्साह के कारण उसे चलने का परिश्रम और कठिनाई दुःख प्रद नहीं होते, किन्तु अपने अभीष्ट की प्राप्ति में देर असह्य होने के कारण व्याकुलता बढ़ती रहती है। इसी प्रकार साधक के जीवन में भी उत्साह और व्याकुलता का बढ़ते रहना परम आवश्यक है।

जब तक मनुष्य वासनाओं की पूर्ति के सुख में रस लेता है, अपने मन की बात पूरी होने में ही जो सन्तुष्ट हो जाता है या जो आलस्य और निद्रा आदि जडता में रस लेता रहता है। उसके जीवन में प्रेम की लालसा जाग्रत् नहीं होती। इसी कारण उसका न तो साधन में उत्साह होता है, न लक्ष्य–प्राप्ति के लिये व्याकुलता आती है और न तत्परता ही होती है। देखा जाता है कि जब तक साथियों का मन एक नहीं होता, उसमें भेद रहता है, तब तक वे छोटे–से–छोटा काम भी पूरा नहीं कर पाते और आपस में मतभेद का द्वन्द्व बना रहता है; किन्तु जहाँ मन की एकता होती है, वहाँ कठिन–से–कठिन काम भी सुगमता से पूरा हो जाता है।

जहाँ साथियों के और साधक के विचारों में भेद हो वहाँ साधक को चाहिये कि जो प्रवृत्ति विवेक के प्रतिकूल न हो, उसके लिये अपने साथियों के मन में अपना मन मिलाकर एकता कर ले। दूसरों के अधिकार की रक्षा के लिये अपने मन की बात पूरी करने का आग्रह हर्ष पूर्वक त्याग दे और

यदि उनके मन की बात विवेक के विरुद्ध हो तो बिना किसी द्वेष भाव के उनका साथ छोड़ दे। त्याग का फल सबसे अधिक त्याग करने वाले को मिलता है। अतः साधक को सब प्रकार की चाह का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। त्याग से ही सदा रहने वाली शान्ति मिलती है।

साधक की प्रवृत्ति तो दूसरों के हित में होनी चाहिये और निवृत्ति काल में उसको सबसे असंग होना चाहिये।

जगत् और शरीर का सम्बन्ध कर्म से है। इनका चिन्तन करना व्यर्थ है। इनके चिन्तन से कोई लाभ नहीं होता।

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध चिन्तन से है। इसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि जो वस्तु चिन्तन से मिलती है, वह कर्म से नहीं मिलती और जो कर्म से मिलती है, वह चिन्तन से नहीं मिलती।

बुद्धि को विवाद में न लगाकर सत्य की खोज में लगाना चाहिये। बल को उपभोग में न लगाकर दूसरों का दुःख मिटाने में लगाना चाहिये। समय को व्यर्थ चिन्तन में न लगाकर सार्थक चिन्तन में लगाना चाहिये। संयोग जनित सुख की प्राप्ति मन चाहता है। विवेक को वह प्रिय नहीं है। वस्तु, अवस्था और परिस्थिति के सम्बन्ध से होने वाला सुख वास्तव में सुख नहीं है। उसका जन्म दुःख से होता है और अन्त भी दुःख में ही होता है। जब प्यास का दुःख होता है तभी जल पीने में सुख मालूम होता है। भूख का दुःख ही भोजन में सुख देता है। इसी प्रकार सुख के वियोग में भी दुःख ही बच रहता है।

(23)
(स्वतन्त्र साधन के लिये प्रेरणा और उसका स्वरूप)

साधक को चाहिये कि चित्त–शुद्धि के लिये अपनी योग्यता और रुचि के अनुरूप ऐसे साधन को अपनावे जो किसी दूसरे पर अवलम्बित न हो अर्थात् जिसमें अपने से भिन्न किसी व्यक्ति, पदार्थ, स्थान या परिस्थिति के सहयोग की आवश्यकता न हो और जो सर्वथा स्वतन्त्र हो।

वेदान्त में जो विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—ये चार साधन बताये हैं, उनमें भी साधक सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियों को वश में करना, मन को वश में करना, शीतोष्ण को सहन करना आदि साधनों के लिये शरीर में बल चाहिये।

इसी प्रकार तप करने में, दान देने में, तीर्थ—सेवन करने में, एकान्त वास करने में अथवा किसी प्रकार की परिस्थिति को बनाये काम रखने में भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है।

जब तक साधक यह सोचता रहता है कि जब अमुक तीर्थ में जाऊँगा तब साधन करूँगा, ऐसा वातावरण मिलेगा तब साधन करूँगा, शरीर स्वस्थ होगा तब साधन करूँगा इत्यादि, तब तक जीवन का अमूल्य समय यों ही चला जाता है, साधन में प्रवृत्ति नहीं होती।

जो साधक अपने साधन में दूसरे के सहयोग की आशा रखता है या उनकी सहायता लेता रहता है, उसका उन व्यक्तियों में मोह और पदार्थों में आसक्ति हो जाती है, अतः चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। विश्वास, त्याग, प्रेम और कर्तव्य—पालन—इन साधनों में मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। किसी भी व्यक्ति या वस्तु का संयोग करना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है, परन्तु त्याग में कठिनाई नहीं है। इसी प्रकार विश्वास के लिये भी किसी के सहयोग की जरूरत नहीं है। जब चाहे अपने इष्ट पर मनुष्य विश्वास कर सकता है। प्रेम में भी परतन्त्रता नहीं है। हरेक प्राणी प्रेम करने में स्वतन्त्र है एवं अपना कर्तव्य—पालन करने में भी किसी प्रकार की परतन्त्रता नहीं है; क्योंकि प्राप्त विवेक का आदर और प्राप्त बल का सदुपयोग ही उसका कर्तव्य है, जो हर मनुष्य हरेक परिस्थिति में कर सकता है। संसार और शरीर से विमुख होकर अपने—आपको प्रभु के समर्पण करके उन पर निर्भर रहने में, उनकी अहैतु की कृपा के आश्रित हो जाने में किसी प्रकार की भी कठिनाई नहीं है। अतः यह साधन अत्यन्त सुगम और अमोघ है।

जो मनुष्य दूसरों की उदारता से उनके त्याग, परिश्रम एवं कर्तव्य—परायणता से अपने अधिकार को सुरक्षित रखता है, अपने मन की

बात पूरी करता रहता है तथा अपने मन की बात पूरी न होने पर उनके कामों में दोष निकालता है और उन पर क्रोध करता रहता है, उसका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। हाँ, जो लोग उसका आदर करते हैं, उसके अधिकार की रक्षा के लिये अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, क्रोध करने पर भी नाराज नहीं होते, प्रत्युत अपने ही दोष का अनुभव करते हैं एवं अपना कोई अधिकार नहीं मानते, उनका चित्त अवश्य शुद्ध हो सकता है, उनका व्यवहार अवश्य साधन माना जा सकता है; परन्तु यदि वे भी वही काम किसी सांसारिक सुख के लालच से या किसी प्रकार के भय से करते हैं, चित्त–शुद्धि द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं करते तो उनका भी चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि साधन के लिये किसी भी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति और स्थान आदि की आशा न करे। जब जो परिस्थिति अपने–आप प्राप्त होती रहे–उसे प्रभु का विधान, उनकी अहैतु की कृपा मानकर साधन परायण हो जाय और उस प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करता रहे अर्थात् किसी पर अपना अधिकार न माने और दूसरों के अधिकार की रक्षा करता रहे तथा अपने शरीर और प्राप्त पदार्थों द्वारा ऐसी सेवा, जिसमें उनकी हित और प्रसन्नता निहित हो, करता रहे और किसी प्रकार के अभिमान को स्थान न दे।

(24)

(साधन में रुचि और प्रवृत्ति स्वाभाविक होनी चाहिये; कर्तव्य–कर्म को भगवान का काम समझकर करें–इस पर उदाहरण – साधन में निष्काम भाव की आवश्यकता, परदोष दर्शन का त्याग, व्यवहार में कैसी समता होनी चाहिये उसका वर्णन)

पहले यह बात कही गयी थी कि जब तक साधक स्वतन्त्र और सुलभ साधन को नहीं अपनाता, साध्य की प्राप्ति के लिये दूसरों पर निर्भर रहता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता।

यहाँ दूसरों से अभिप्राय ईश्वर से या अपने–आपसे और कर्तव्य से नहीं है; क्योंकि ईश्वर से साधक का भेद नहीं है। उससे तो साधक का नित्य सम्बन्ध है। जिनसे स्वरूप का या जाति का नित्य सम्बन्ध नहीं है, माना हुआ सम्बन्ध है, वे ही दूसरे हैं।

जब मनुष्य दूसरों के कर्तव्य पर निर्भर होकर उनको साधन में सहायक मानता है, तब उनके अनुकूल व्यवहार से तो उनमें आसक्ति हो जाती है और प्रतिकूल व्यवहार से क्रोध हो आता है। ये दोनों ही चित्त की अशुद्धि के मुख्य कारण हैं।

विचार करने पर मालूम होता है कि साधन करने में मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। जो परिस्थिति और योग्यता उसे वर्तमान में प्राप्त है उसी में वह साधन कर सकता है; क्योंकि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही साधन है और उसकी सफलता भी निश्चित है। इस पर भी साधन में प्रवृत्ति और रुचि नहीं होती, जो काम करना ठीक समझते हैं उसे नहीं कर पाते। यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। प्राप्त विवेक के द्वारा साधक को खोज करनी चाहिये कि वास्तव में इसका कारण क्या है। विचार करने पर मालूम होगा कि प्रायः जो अपने को साधक मानते हैं और साधन के उद्देश्य से घर बार और कुटुम्ब से सम्बन्ध छोड़कर अलग रहते हैं, वे भी अपने साथियों एवं जिससे किसी प्रकार का सम्पर्क है, उनसे किसी–न–किसी प्रकार की आशा रखते हैं। उनके कर्तव्य से अपने मन की बात पूरी करना चाहते हैं। अपने अधिकार का त्याग करना और भगवान के नाते दूसरों के मन की बात पूरी करना, अपना कर्तव्य नहीं समझते। इसलिये उनका चित्त शुद्ध नहीं होता।

दूसरा कारण यह भी मालूम होगा कि जो काम करते हैं, उसे जिस प्रकार करना चाहिये ठीक उस प्रकार पूरा नहीं करते। जिस किसी प्रकार से उसे समाप्त कर देना चाहते हैं। अतः उसके संकल्प दूसरे समय में उठते रहते हैं, उसका चिन्तन नहीं छूटता।

इसलिये साधक को चाहिये कि जिस समय जो काम करे, उसे भगवान का काम समझकर उसकी प्रसन्नता के लिये उत्साह पूर्वक उसमें

पूरा मन लगाकर उसे सुचारु रूप से पूरा कर दे ताकि काम से अलग होते ही मन संकल्प रहित हो जाय या अपने प्रेमास्पद के चिन्तन में लग जाय और हृदय में उनके प्रेम रस का अनुभव होने लगे।

जिस प्रकार एक सती स्त्री हरेक काम अपने पति की प्रसन्नता के लिये सुचारु रूप से करती है, उसमें गलती नहीं करती और जिस प्रकार वह पति के मन में अपना मन मिला देती है। अपना कोई आग्रह न रखकर पति जो चाहता है वही करती है और पति की प्रसन्नता के लिये पति के मित्र, सम्बन्धी, पिता–माता, भाई–बहिन आदि की सेवा भी बड़े प्रेम और उत्साह के साथ कुशलता पूर्वक करती है। उसमें किसी प्रकार की असावधानी, अवहेलना या आलस्य नहीं करती। जिस प्रकार एक श्रेष्ठ शिष्य अपने गुरु की प्रसन्नता के लिये, एक श्रेष्ठ पुत्र अपने माता–पिता की प्रसन्नता के लिये, एक पिता अपनी सन्तान की प्रसन्नता के लिये, अपने स्वार्थ का त्याग करता है, अपने मन की बात छोड़कर उनके अनुकूल व्यवहार करता है। वैसे ही साधक को भी अपने प्रभु की प्रसन्नता के लिये अपने मन की बात छोड़कर सबके साथ उनके अनुकूल व्यवहार करना चाहिये।

जो स्त्री अपने सुख के लिये पति की सेवा करती है। अपने पति से अपने मन की बात पूरी कराना चाहती है और जो पति अपने मन की बात स्त्री से पूरी कराना चाहता है। अपने सुख–भोग के लिये स्त्री का पालन–पोषण करता है। उनका आपस में संघर्ष बना रहता है, प्रेम नहीं होता और वे एक–दूसरे को छोड़ भी नहीं सकते। इसी प्रकार गुरु और शिष्य, पिता और पुत्र, मित्र और अमित्र, सेवक और स्वामी इन सबके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये।

जो साधक भगवान की भक्ति, उनका भजन–स्मरण अपने सुख–प्राप्ति को इच्छा से करता है। भगवान से कुछ लेना चाहता है, जिसको उनके प्रेम की अभिलाषा नहीं है, उसका चित्त भी सर्वथा शुद्ध नहीं होता और वह भगवान का प्रेम पात्र नहीं बन सकता।

इसलिये साधक को चाहिये कि दिन–रात के चौबीस घण्टे एवं साधन के आरमा से मृत्युपर्यन्त जो कुछ करे, प्रभु की प्रसन्नता के लिये करे उनके प्रेम को लालसा के अतिरिक्त किसी प्रकार की चाह न करे, अपने सारे जीवन को साधन बना ले। भजन–स्मरण, खाना–पीना, व्यवहार–व्यापार और अतिथि सत्कार–सेवा आदि में कोई प्रीति का भेद न रहे।

आज कल लोग अपने सम्पर्क वालों के कर्तव्य से अपने अधिकार की रक्षा और अपनी चाह की पूर्ति चाहते हैं। हरेक मनुष्य दूसरे के कर्तव्य और अपने अधिकार की ओर देखते हैं। अपने कर्तव्य की ओर नहीं देखते। इस कारण न तो धर्म–पालन होता है और न आपस में प्रेम ही सुरक्षित रहता है। गुरु शिष्य को उनके कर्तव्य की त्रुटि दिखाता है। साधु गृहस्थ को उसके कर्तव्य की बात बताता है और अपने मन के थोड़ा सा भी प्रतिकूल होने पर क्रोध करने लगता है। गृहस्थ देखता है, यह कैसा साधु है? क्या साधु को भी कभी क्रोध आना चाहिये? इसी प्रकार एक दूसरे के दोषों को देखते रहते हैं। तब उनका अन्तःकरण शुद्ध कैसे हो?

इस प्रकार के व्यवहार में जब पिता–पुत्र से कहता है कि 'तू अमुक काम हमारे मन के अनुकूल नहीं करता, तू बड़ा नालायक है।' सामने नहीं कहता तो उसके मन में यह भाव आ ही जाता है कि 'भूल तो इनकी है और मुझे नालायक बताते हैं।' अतः यदि किसी को हित की बात बतानी हो, तो भी बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि पहले उसमें प्यार और विश्वास उत्पन्न करे। जब उसे यह विश्वास हो जायगा कि ये मेरा सब प्रकार से हित चाहते हैं; इनका कोई स्वार्थ नहीं है, तभी वह उनकी बात मान कर उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करेगा।

चित्त शुद्धि के लिये व्यवहार में समता भी होनी चाहिये। विषमता के व्यवहार से चित्त अशुद्ध हो जाता है। इससे मनुष्य की साधन में रुचि नहीं होती। आजकल देखा जाता है कि लोग अपने साथियों में और जिनके साथ समय पर सम्पर्क होता है उनमें व्यवहार का बहुत भेद रखते हैं। पिता जिस प्रकार अपने पुत्र से प्रेम करता है–वैसा भाई के पुत्र से या पड़ोसी के पुत्र

से नहीं करता। स्त्री अपने पति को जैसा भोजन देती है, अपने देवर–जेठ को वैसा नहीं देती। जैसे अपने पुत्र को देती है, वैसे देवर–जेठ के पुत्र को नहीं देती। और की तो कौन कहे, अपने ही शरीर से उत्पन्न पुत्र और पुत्री में भी भेद रखती है। समझती है कि पुत्र तो अपने घर में रहेगा। कमाकर हमारा पालन–पोषण करेगा, लड़की तो दूसरे घर की होगी। हमें तो उलटा देना–ही–देना रहेगा। इसी प्रकार अपने सगे–सम्बन्धी, जान–पहचान के व्यक्तियों में और अपरिचित आगन्तुक व्यक्ति के साथ भी व्यवहार में भेद होता है। उपर्युक्त भेद केवल कर्म में हो या आवश्यकता के भेद से हो या जिसका सत्कार करना है, उसकी रुचि के भेद से वस्तु का भेद हो तो कोई हानि नहीं है। वह तो होना ही चाहिये, परन्तु प्रेम का भेद नहीं होना चाहिये। प्रीति की एकता होनी चाहिये। पर होता बिलकुल इसके विपरीत है। किसी समय किसी कारण से वस्तु में भेद न होकर भी प्रीति में भेद हो जाता है। इससे न तो चित्त शुद्ध होता है, न प्रेम बढ़ता है, न आपस में एकता आती है और न शान्ति ही मिलती है।

अतः साधक को चाहिये कि जिसके साथ–व्यवहार करे, उसे ईश्वर का स्वरूप माने अर्थात् वह समझे कि स्वयं भगवान् ही कृपा करके मेरी सेवा स्वीकार करने के लिये इस वेष में आये हैं। अथवा यह समझे कि सर्वव्यापी भगवान् इसमें विद्यमान हैं, अतः इसकी सेवा उन्हीं की सेवा है। यह भी न हो सके तो कम–से–कम यह तो समझे कि जो समस्त जगत के कर्ता–संहर्ता और स्वामी हैं, यह भी उन्हीं का है। अतः इसके आदर, सत्कार एवं सेवा से भगवान् प्रसन्न होंगे। मुझे उनका प्रेम प्राप्त होगा। इस भाव को लेकर प्रेम और उत्साह के सहित उसकी हरेक आवश्यकता की पूर्ति करे तथा सब कुछ भगवान का है, उन्हीं की वस्तु उन्हीं के काम में लग रही है, इस भावना से अपने मन में किसी प्रकार का अभिमान न आने दे। इस प्रकार व्यवहार करने वाले साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है। उसकी किसी प्रकार की भोगवासना नहीं रहती। निःस्वार्थ प्रेम ही वास्तव में भक्ति है और सब वासनाओं से रहित होना ही मुक्ति है; अतः भक्ति चाहने वाले साधकों में

प्राणि मात्र के प्रति अगाध प्रेम रहना चाहिये और मुक्ति चाहने वाले साधकों में सब प्रकार की वासनाओं का अभाव होना चाहिये।

(25)
(माने हुए सम्बन्ध का त्याग और प्रभु के साथ विश्वास पूर्वक सम्बन्ध जोड़ना; इसपर गोपियों का उदाहरण)

यह पहले कहा गया था कि चित्त शुद्धि के लिये माने हुए सम्बन्ध का त्याग करना अनिवार्य है।

साधक को चाहिये कि शरीर और संसार के साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, उसको तोड़कर अपने प्रभुपर विश्वास करके उनके साथ सम्बन्ध जोड़े, उनके सिवा और किसी को अपना न माने।

उनको अपना मानने में और उनसे प्रेम करने में साधक सदैव स्वतन्त्र है। हाँ, भगवान् उसको अपना माने या न मानें, उसे अपना प्रेम प्रदान करें या ठुकरा दें, यह उनके हाथ की बात है। इसमें साधक के वश की बात नहीं है, परन्तु उनके ठुकराने पर भी उनको अपना मानना, उनसे प्रेम करना और उन्हीं पर निर्भर रहना–इसमें तो साधक किसी प्रकार भी पराधीन नहीं है। क्या गोपियों को भगवान्ने नहीं ठुकराया, परन्तु इतनेपर भी क्या वे कभी उनसे विमुख हुईं ? क्या उनको अपना मानना और प्रेम करना छोड़ दिया? नहीं, वे चाहे ठुकरावें और चाहे प्रेम करें–प्रत्येक अवस्था में उन गोपियों को तो वे अपने ही दीखते थे। यही कारण था कि भगवान् अलग रहते हुए भी उनके पास ही थे। भगवान् श्याम सुन्दर भी उनके प्रेम में इतने मुग्ध थे कि उनका स्पर्श पाकर आये हुए पुष्प को देख कर प्रेम में विभोर हो जाते, उनके चरण की रज हवा में उड़ कर शरीर पर पड़ती तो अपने को धन्य मानते।

कोई कहे कि भगवान को तो हमने कभी देखा नहीं, हम कैसे उनको अपना मान लें और कैसे उनसे प्रेम करें तो इसका **उत्तर** यह है कि जिस

संसार और शरीर को तुम देख रहे हो, इससे सम्बन्ध का त्याग करने में तो तुम स्वतन्त्र हो। यह सम्बन्ध तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है। अतः इससे सम्बन्ध तोड़ कर सर्वथा विमुख हो जाओ। यदि यह तुम्हारे पीछे–पीछे दौड़े तो भी तुम इसकी ओर दृष्टिपात मत करो। जब तुम्हारा इससे सम्बन्ध नहीं रहेगा, तब भगवान से सम्बन्ध अपने–आप हो जायगा। इसको पीठ देते ही तुम भगवान के सम्मुख हो जाओगे, सम्मुख होते ही तुम्हारे अनन्त जन्मों के पापों का नाश होकर तुम्हारा चित्त उसी क्षण शुद्ध हो जायगा और भगवान् तुम को अपना लेंगे। तब तुम भगवान को देख लोगे।

कोई कहे कि 'पहले हमको भगवान का प्रेम प्राप्त हो जाय तब हम इस जगत से सम्बन्ध छोड़ दें तो ऐसा नहीं होता। यदि कोई अपना मुख गिलोय से भर ले और कहे कि मिसरी का मिठास प्राप्त होने पर गिलोय का त्याग करूँगा। यह जैसे सम्भव नहीं, इसी प्रकार जब तक साधक संसार को पीठ देकर भगवान के सम्मुख नहीं होता, तब तक उनका प्रेम प्राप्त होना सम्भव नहीं है। उनसे सम्बन्ध जोड़ने के लिये अर्थात् जिनसे साधक का नित्य सम्बन्ध है और जिनको वह अपने ही प्रमाद से भूल गया है, उस भूल को मिटाने के लिये अपने माने हुए सम्बन्ध को पहले मिटाना होगा।

शरीर और संसार से सम्बन्ध टूटते ही निर्वासना और असंगता प्राप्त हो जायगी, राग का सर्वथा अभाव हो जायगा। निर्वासना से योग, असंगता से बोध और समर्पण से अनुराग अपने–आप प्राप्त हो जाता है, यह नियम है।

जगत से सम्बन्ध तोड़ने से मुक्ति और भगवान से सम्बन्ध जोड़ लेने पर भक्ति स्वतः हो जाती है।

(26)

(सबको अपना समझना या किसी को भी अपना न समझना क्षमाशील होना परम आवश्यक है; भगवान की प्रकृति से भोगवासना की पूर्ति चाहना साधन में विघ्न है; पतनका कारण प्रारब्ध नहीं है – उत्तम जीवनका चित्र)

जब तक साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में किसी प्रकार की उलझन या कठिनाई मालूम हो, तब तक समझना चाहिये कि चित्त में किसी–न–किसी प्रकार की अशुद्धि है।

जब तक मनुष्य पराधीन रहता है, अपनी कामना की पूर्ति दूसरों से चाहता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

सन्तों का कहना है कि जब मनुष्य आजाद (स्वाधीन) हो जाता है, तब खूखार शेर उसे गोद में ले लेता है, वृक्ष उसे फल देने लगते हैं। भाव यह कि चाह रहित मनुष्य को आवश्यक वस्तुएँ अनायास अपने–आप प्राप्त होती हैं।

साधक को चाहिये कि या तो सभी को अपना समझे या किसी को अपना न समझे। यह दोनों ही साधन हैं। सबको अपना समझने वाला सबसे समान प्रेम करता है। प्रेम में देना ही देना रहता है। किसी से कुछ लेने की भावना नहीं रहती। अतः सब प्रकार से प्राप्त शक्ति के द्वारा सब का हित करना, उस शक्ति को उनके हित में लगा देना और बदले में उनसे कुछ लेना नहीं, यही सब को अपना समझना है एवं सबसे असंग हो जाना ही अपना न समझना है। जो दूसरों से कुछ लेने के लिये उनको अपना समझता है, वह कभी गुलामी से नहीं छूटता। जिस–जिस भोग को वह चाहता है, उस–उसका गुलाम बन जाता है, अतः स्वाधीन नहीं हो पाता और उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है।

चित्त की शुद्धि के लिये क्षमा की बड़ी भारी आवश्यकता है। अतः साधक को क्षमाशील होना चाहिये। जब कभी उसे मालूम हो कि मेरे कारण से किसी को कष्ट हुआ है, मुझसे किसी के प्रतिकूल व्यवहार हो गया है, तो तुरन्त उससे क्षमा माँग ले। यदि अपनी गलती का भास कालान्तर में हो तो मन से क्षमा माँग ले और पुनः वैसी गलती न करने का दृढ़ संकल्प कर ले। इससे साधक में निर्दोषता आती है।

यदि किसी दूसरे का व्यवहार अपने प्रतिकूल हो तो तत्काल ही उसे क्षमा कर दे। अपने मन में यह भाव ही न रहने दे कि उसने कोई अपराध

किया है, ताकि उससे बदला लेने की भावना कभी भी उत्पन्न न हो। यह भाव रखे कि सरकार से या ईश्वर से भी उसको किसी प्रकार का दण्ड न मिले, बल्कि ईश्वर से यह प्रार्थना करे कि इसकी बुद्धि शुद्ध कर दीजिये ताकि यह अन्य किसी के साथ बुरा व्यवहार न करे। इससे साधक में वैर–भाव मिट जाता है।

जो स्वयं दुःखी होता है, वही दूसरों को दुःख देता है। जिसके पास वस्तु होगी वही तो देगा। जिसके पास दुःख है ही नहीं, वह कहाँ से देगा। दुःखी प्राणी हर प्रकार से दया का पात्र होता है। अतः क्षमाशील साधक कभी किसी पर क्रोध या द्वेषभाव नहीं करता। उसे तो किसी का अपराध दिखता ही नहीं। वह तो दुःख का हेतु अपनी बेसमझी को मानता है।

जो क्षमाशील साधक अपनी गलती के लिये दूसरों से क्षमा माँग का और पुनः गलती न करने का संकल्प करके निर्दोष हो जाता है तथा अपने प्रति जो प्रतिकूल व्यवहार करता है, उसका दोष न मानकर वैर भाव से रहित हो जाता है, उसका चित्त शुद्ध हो जाता है।

आजकल जब किसी के मन के विपरीत काम होता है, तब उसको क्रोध आ जाता है। यदि कोई कहे कि क्रोध नहीं करना चाहिये तो कहते हैं कि 'क्रोध किसको नहीं आता? क्या मैं महात्मा हो गया? मैं तो गृहस्थ हूँ' इत्यादि। यदि उनसे पूछा जाय कि 'आप महात्मा क्यों नहीं बन गये ? किसने मना किया था? मनुष्य ही तो महात्मा होते हैं ?' तो इसका कोई **उत्तर** नहीं है। ऐसे प्राणियोंका चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

जो मनुष्य भगवान की प्रकृति को अपना मान कर उससे भोग–वासना की पूर्ति चाहता है, उसके साथ प्रकृति उदारता का व्यवहार नहीं करती। उसको तो वह उसके कर्मानुसार न्यायोचित फल देती है। उस पर प्रसन्न नहीं होती, बल्कि क्रोध करती है। जैसे किसी सती स्त्री को कोई अपनी समझकर उससे भोग की चाह करे तो वह क्या करेगी ? क्या उसको शाप नहीं देगी? इसी प्रकार ही प्रकृति के बारे में समझ लेना चाहिये। परंतु जो प्रकृति को अपने प्रभु की समझता है, उससे किसी प्रकार भी भोग नहीं

चाहता, उस पर प्रकृति–माता प्रसन्न होकर जैसे कोई माता अपने पुत्र का पालन करती है, उसी प्रकार उसका पालन–पोषण करती रहती है। यही कारण है कि चाह रहित साधक को कभी अभाव का भास नहीं होता।

किसी को यह कभी नहीं समझना चाहिये कि पतन का कारण प्रारब्ध है; क्योंकि प्रारब्ध किसी के पतन का कारण नहीं होता। विवेक का अनादर करने से और प्राप्त बल का दुरुपयोग करने से ही मनुष्य का पतन होता है।

जो मनुष्य अपने दोष की ओर ध्यान न देकर दूसरों को दोषी मानता है और इस खयाल से कि 'यहाँ मेरा आदर नहीं है, मेरे साथ लोग व्यवहार ठीक नहीं करते'–एक जगह छोड़कर दूसरी जगह जाता है, उसको वहाँ भी आदर नहीं मिलता; क्योंकि दूसरों से सुख चाहने वाले मनुष्य का कोई भी आदर नहीं करता। जैसे कोई बेवकूफ हो और सभी लोग उसे बेवकूफ कहने लगें एवं उस अपमान से बचने के लिये वह कहीं अपरिचित स्थान में चला जाय, वहाँ जाकर कहीं जमीन के खड्डे में बैठकर भोजन करे और इस खयाल से इधर–उधर देखता रहे कि कोई दूसरा देख न ले, कोई मुझे बेवकूफ न समझ ले। इस परिस्थिति में उसे देखने वाले उससे कहें कि 'अरे बेवकूफ ! यहाँ क्या कर रहा है?' तो वह क्या समझेगा। वह मन में यही समझेगा कि यहाँ भी लोगों ने मुझे पहचान लिया। कहने का भाव यह है कि जब तक उसमें बेवकूफी बनी रहेगी; वह कहीं भी किसी से छिपी नहीं रहेगी। इसी प्रकार जब तक मनुष्य अपने दोष को स्वयं नहीं मिटा लेगा, तब तक कहीं भी उसे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी।

इसलिये साधक को चाहिये कि जब जहाँ जो परिस्थिति प्राप्त है उसका सदुपयोग करे। ऐसा करने से उसकी उन्नति का मार्ग अपने–आप खुल जाता है और उसकी उन्नति के लिये जब जैसी परिस्थिति आवश्यक होती है, अपने–आप अनायास प्राप्त हो जाती है। जब भगवान् उसका एकान्तवास आवश्यक समझते हैं तब वैसी ही परिस्थिति पैदा कर देते हैं।

साधक के लिये सबसे अच्छा जीवन वही है जब हृदय में निरन्तर प्रेम की गंगा लहराती रहे। अहं–अभिमान से सर्वथा शून्य हो, किसी प्रकार को चाह का उदय न हो, शरीर विश्व के काम आता रहे तथा जीवन सब प्रकार से पूर्ण और अनन्त हो।

जीवन बदल जाना साधक का दूसरा जन्म है। यज्ञोपवीत–संस्कार हो जाने पर जो 'द्विज' कहा जाता है, उसका यही भाव है कि वह उसका नया जन्म है अर्थात् उसे वेद के ज्ञान का अधिकार प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार किसी प्रकार की दीक्षा देकर उसके अहं को बदल देना, गृहस्थ से वान प्रस्थ या संन्यास ग्रहण कर लेना भी दूसरा जन्म माना जाता है; क्योंकि उससे उसका अहं परिवर्तित होता है।

जब सब प्रकार के दोषों का अभाव होकर चित्त शुद्ध हो जाय, तब साधक को समझना चाहिये कि मैं अब पहले वाला नहीं हूँ। मेरा यह दूसरा जन्म है। परंतु उसमें भी योग के, बोध के या प्रेम के अभिमान का भास नहीं होना चाहिये। प्रेमी भक्त भगवान से अपने उद्धार की भी कामना नहीं करता। वह तो सर्वथा निष्काम रहता है।

(27)

(दोषों को छिपाना उनका पोषण करना है; दूसरे के दोष देखकर अपने दोषों के दुःख को दबाना भूल है – चित्त की दशा का अध्ययन करने की विधि, सुधार का उपाय)

चित्त की शुद्धि के प्रसंग में क्षमा माँगने तथा करने की बात पहले कही गयी थी। अब यह कहना है कि मनुष्य को अपना दोष स्वीकार करने में और क्षमा माँगने में संकोच क्यों होता है। विचार करने से मालूम होगा कि उसको दोषी बने रहने में उतना दुःख नहीं है जितना कि दोषी कहलाने में है। वह चाहता है कि लोग मुझे अच्छा आदमी समझते रहें, मेरे दोष

प्रकट न हों, छिपे रहें। इस भावना से दोषों का पोषण होता रहता है और अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि कोई हित चिन्तक मित्र, माता, पिता और गुरु भी किसी का कोई दोष बतलाते हैं तो स्वीकार करना तो दूर रहा, वह झुंझलाकर उसकी सफाई देने लग जाता है। अपने दोष को छिपाने के लिये अनेक प्रकार के नये दोष उत्पन्न कर लेता है। यहाँ तक कह देता है कि 'जब अपने पर आती है, तब मालूम पड़ता है। दूसरे को समझाना सहज है। यदि तुम मेरी स्थिति में होते तो तुम भी ऐसा ही करते' इत्यादि। यही कारण है कि जो मनुष्य अनेक वर्षों सत्संग करते हैं, वे भी आजतक अपने चित्त को शुद्ध नहीं बना सके।

अतः साधक को चाहिये कि अपने चित्त के दोषों को देख कर दुःखी हो और दोषी कहलाने से न डरे एवं निर्दोष बनने की कोशिश करे और निर्दोषता की ख्याति का रस न लेय क्योंकि निर्दोषता की ख्याति का रस मनुष्य का चित्त शुद्ध नहीं होने देता अर्थात् उसको निर्दोष नहीं बनने देता। अतः यदि कोई अपना दोष बतलाये तो क्षुब्ध न होकर उसे अपना हितैषी मानना चाहिये और उसकी बात सुनकर सफाई देने की कोशिश न करके अपने दोषों को सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिये तथा उनको मिटा देना चाहिये। दोषों का मिटाना कठिन नहीं है। क्योंकि दोष प्राणी में स्वाभाविक नहीं हैं उसके प्रमाद से उत्पन्न हुए हैं।

जो लोग यह सोचते हैं कि दोष किसमें नहीं हैं, बड़े–बड़े लोगों में भी देखे जाते हैं। इस प्रकार दूसरों के दोषों की ओर देखने वाले का चित्त शुद्ध नहीं होता, क्योंकि उसे अपने दोषों के बने रहने का दुःख नहीं होता और उनको हटाने के लिये प्रयत्न नहीं होता, बल्कि निराशा पैदा होती है। अतः साधक को चाहिये कि उक्त प्रकार से दूसरों के दोषों की ओर देख कर सन्तोष न करे और अपने दोष मिटाने से निरुत्साह न हो, बल्कि अपने दोषों को गहराई से देखे और उनके न मिटने से दुःखी हो। यही दोषों को मिटाने

का उपाय है। जो अपने दोषों को देख–देखकर दुःखी होता है और उनको मिटाने के लिये साधन करता है, उसमें दोष नहीं रह सकते।

यदि दूसरे लोग बड़ाई करें, निर्दोष बतावें तो साधक को हृदय से उसका विरोध करना चाहिये और बिना संकोच के अपने दोष लोगों के सामने स्वीकार कर लेने चाहिये एवं साथ–ही–साथ भगवान को अपार दया का अनुभव करना चाहिये कि उनका कैसा मधुर स्वभाव है, जो मुझ जैसे अधम को भी लोगों की दृष्टि में सम्मान के योग्य बना देते हैं।

अपने दोषों को जानने के लिये मनुष्य को अपने चित्त की दशा का अध्ययन करना चाहिये। यदि किसी लड़की या स्त्री को देखकर उसकी सुन्दरता पर दृष्टि जाय; मन को वह प्रिय लगे तो समझना चाहिये कि मेरे मन में अभी तक (चमड़ी के) सौन्दर्यका महत्त्व है। अतः मुझमें 'कामका दोष' विद्यमान है। यदि उसे देखकर किसी प्रकार का बुरा भाव उत्पन्न न हो तो भी सुन्दरता की प्रियता भी तो काम का दोष ही है। इसी प्रकार किसी मकान को देख कर उसकी बनावट की, सुन्दरता का या उपयोगिता का महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि मन में अभी तक 'लोभका दोष' है। यदि सम्पत्तिशाली व्यक्ति को देख कर सम्पत्ति का महत्त्व मालूम हो, किसी धनी के जीवन से धन का महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि अभी तक लोभ का दोष है। यदि घर पर अतिथि आवें तथा उनका सत्कार करने के लिये जो दूध, अन्न, फल या वस्तुएँ खर्च हों, उनकी ओर मन आकर्षित हो तथा ऐसा भाव उठे कि आज इतनी मात्रा में अमुक–अमुक वस्तुएँ तो खर्च हो गयीं, अमुक बची है, यह व्यर्थ जायगी। इस प्रकार उन वस्तुओं का महत्त्व प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि लोभ का दोष है। जिसके मन में लोभ का दोष नहीं होगा, वह तो जितने अतिथियों की सेवा का अवसर मिलेगा, उतना ही सौभाग्य मानेगा। उसकी दृष्टि वस्तुओं की ओर नहीं जायगी। जिस प्रकार धन का संग्रह करना लोभ है, उसी प्रकार उसके खर्च के रस का उपभोग भी लोभ ही है; क्योंकि उसके मन में धनका महत्त्व वर्तमान रहता है। परिवार के लोगों को अपने सुख का हेतु समझकर जो

उनमें प्रियता है, यह 'मोहका दोष' है। इसी प्रकार अपने शरीर को हृष्ट–पुष्ट और नीरोग देख कर जो प्रसन्नता होती है यह भी मोह है एवं किसी स्वस्थ और बलवान् मनुष्य को देखकर अपने मन में उसका महत्त्व मालूम हो तो यह भी मोह का दोष है। लोगों का सम्मान होता देखकर उसका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि अभी तक 'देहाभिमानका दोष' है। यदि किसी की कीर्ति सुनकर उसका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि 'बड़ाई की वासना का दोष' है; क्योंकि निरादर का भय और मान की चाह कृये दोनों देहाभिमान से होते हैं और लोक वासना से बड़ाई प्रिय लगती है।

इस प्रकार अपने दोषों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करके उनका त्याग करने की चेष्टा करनी चाहिये और कभी भी अपने को निर्दोष मानकर अभिमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभिमान रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

किसी त्यागी महात्मा को देखे तो उसके त्यागका महत्त्व मालूम होना चाहिये। गोपियों के चरित्र से उनके प्रेम का महत्त्व मालूम होना चाहिये। मीराँ को याद करके उसके विश्वास का महत्त्व मालूम होना चाहिये। सहजोबाई को याद करके उसके विवेक का महत्त्व मालूम होना चाहिये। इसी प्रकार जहाँ–जहाँ दृष्टि जाय, वहाँ–वहाँ यदि दूसरों के सद्‌गुणोंका महत्त्व मालूम होकर उनकी ओर चित्त का आकर्षण हो तो समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हो रहा है।

साधक को यह निश्चय करना चाहिये कि मुझे वहाँ पहुँचना है जिसके आगे कोई रास्ता नहीं है। जो सबकी अन्तिम अवधि है, वह है परम सुहृद् प्रभु का अगाध प्रेम। रास्ते में स्थिरता और शान्ति के विश्राम–स्थान मिलें तो वहाँ ठहरना नहीं है।

(28)

(दोषों के रहते हुए उनका दुःख न होने का कारण – चाह की पूर्ति को सुख मानने से अनेक प्रकारके दोषों की उत्पत्ति – मनुष्य की वास्तविक माँग और उसकी पूर्ति का उपाय)

पहले चित्त–शुद्धि के प्रसंग में यह बात कही गयी थी कि साधक को अपने दोषों का निरीक्षण करके दुःखी होना चाहिये। तब दोषों का नाश होकर चित्त शुद्ध हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि दोषों के रहते हुए मनुष्य को उनके रहने का दुःख क्यों नहीं होता? विचार करने पर मालूम होगा कि मनुष्य उन दोषों में सुखभोग की कल्पना करके रस लेता रहता है। इस कारण उनके रहने का दुःख नहीं होता और उनको मिटाने की लालसा और कोशिश नहीं होती।

भोगों की चाह का उत्पन्न होना और उनका पूर्ण होना–इसी को मनुष्य सुख मान लेता है और यही सबसे बड़ा दोष है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब प्रकार के दोष भोग–वासना से उत्पन्न और होते रहते हैं।

आजकल की सभ्यता मनुष्य को यही सिखाती है कि अपने रहन–सहन की उन्नति करो अर्थात् सुन्दर–सुन्दर भोगों की चाह उत्पन्न करो और उनकी पूर्ति के लिये श्रम करके नाना प्रकार की भोग–सामग्री का संग्रह करो एवं उनका उपभोग करके चाह की पूर्ति का सुख भोगो और फिर चाह करो। इस प्रकार दुःख–सुख के चक्र में चढ़े रहना ही जिनकी दृष्टि में उन्नति है, उनके हृदय में अपने दोषों को मिटाने का भाव कैसे प्रकट हो सकता है?

उनकी शिक्षा का दुरुपयोग करने वाले आलसी मनुष्य तो भोग–सामग्री जुटाने के लिये परिश्रम करना भी नहीं चाहते। वे तो आशा दे करते हैं कि कोई दूसरा ही हमारे लिये सब आवश्यक सामग्री जुटा दे और हम उसके भोग का सुख लेते रहें।

ऐसे मनुष्यों को अपनी वास्तविक आवश्यकता का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उनको इस बात का पता ही नहीं है कि इस जीवन से उत्कृष्ट कोई दूसरा भी जीवन है; जहाँ किसी प्रकार का अभाव नहीं है, जहाँ मौतका भय नहीं है, जिसमें केवल रस–ही–रस है, दुःख का लेश भी नहीं है। यद्यपि सभी प्राणी चाहते हैं कि हमें दुःख न मिले, हम स्वाधीन और समर्थ हों, हमारा जीवन अमर हो जाय, मौत का भय न रहे, परंतु उस जीवन से निराश हो गये हैं और वर्तमान जीवन को ही वास्तविक जीवन मान लिया है।

चाह की पूर्ति को सुख मानने वालों के मन में धन की कामना जाग्रत होती है। उसके लिये वे वह काम करते हैं जो करना चाहिये और वह काम भी करते हैं जो नहीं करना चाहिये। एक सूत की मिल चलाने–वाला हजारों सूत कातने वालों की जीवि का नष्ट करके स्वयं धनी होता है। एक तेल–कल का मालिक हजारों तेली गृहस्थों का जीवन दुःखमय बनाकर स्वयं धनी होता है। एक आटा–कल का मालिक सैकड़ों विधवा और परिश्रमी स्त्रियों को बेकार बना देता है। इससे देश की कितनी हानि हो रही है, उस ओर उन स्वार्थी लोगों का लक्ष्य ही नहीं जाता। वे लोग समाज को भी शुद्ध वस्तुओं के बदले खराब वस्तु देकर लोगों का स्वास्थ्य बिगाड़ते हैं और उसमें देश की उन्नति मानते हैं।

दूसरे समूह के लोग जो अपने को विरक्त कहने का दम भरते हैं, अपने को भगवान का भक्त कहते हैं, उनका जीवन भी मनुष्य को अपनी वास्तविक आवश्यकता की पूर्तिकी ओर आकर्षित नहीं करता; क्योंकि उनमें भी अधिकांश लोग बड़े–बड़े मठ, बड़े–बड़े अधिकार और बहुत–सी सामग्रियोंका संग्रह करने में ही अपना जीवन सफल और उन्नत मानते हैं। अमुक स्वामी जी का आश्रम बड़ा सुन्दर है। वहाँ लोगों को सब प्रकार का सुख मिलता है, उनके बड़े–बड़े धनीमानी ऊँचे अफसर, मिनिस्टर लोग शिष्य हैं, उनका बड़ा सम्मान है, इस प्रकार की बड़ाई सुन–सुनकर मस्त रहते हैं एवं व्यक्ति, वस्तु अवस्था और परिस्थिति के सम्बन्ध से चाह की पूर्ति

के सुख को ही सुख मानते हैं। उनके हृदय में भी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव नहीं होता।

ऐसे लोग जब कहीं बाहर जाते हैं, तब अपने साथियों को सोने के लिये पूरी जगह मिले, चाहे न मिले परंतु उनको कम–से–कम एक कमरा स्वतन्त्र चाहिये। उसके लिये फिर नाना प्रकार का दम्भ करते हैं। कहते हैं हमें एकान्त चाहिये। यदि सचमुच एकान्त की जरूरत हो तो जंगल में कमी नहीं है। किसी भी वृक्ष के नीचे एकान्त मिल सकता है। टूटे–फूटे खण्डहरों और जीर्ण मन्दिरों की भी कमी नहीं है। परंतु वहाँ आराम कैसे मिले। इस प्रकार का एकान्त उनको नहीं चाहिये।

इसी प्रकार तीर्थ यात्रा आदि के बहाने से जो अपनी शौक पूरी करते हैं, नाना प्रकार के स्थानों को, प्रकृति के सौन्दर्य को और अनेक प्रकार के दृश्यों को देख–देखकर रस लेते रहते हैं, उनको भी तीर्थ सेवन का असली फल नहीं मिलता अर्थात् उनका भी चित्त शुद्ध नहीं होता। तीर्थ से वन का अधिकारी वह होता है जो तीर्थ स्थानों में दिव्य लोकान्तरों का अनुभव करता है अर्थात् जिसकी तीर्थों में भौतिक बुद्धि नहीं है।

मनुष्य की असली माँग है–ऐसा आनन्द, जिसमें दुःख का मिश्रण न हो; ऐसा जीवन, जिसमें मृत्यु का भय न हो, ऐसा रस, जिसमें नीरसता की गन्ध न हो और ऐसा ज्ञान, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह न हो।

इस माँग की पूर्ति तभी हो सकती है जब साधक अपने प्राप्त विवेक का आदर करे, किसी भी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के सम्बन्ध से मिलने वाले सुख–दुःखों का रस न ले, अपने दोषों को देख कर उनके होने के दुःख से दुःखी हो, जब तक चित्त शुद्ध न हो जाय, तब तक चैनसे न रहे।

देहाभिमान के रहते हुए चाह का अभाव नहीं होता। चाह रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। चित्त शुद्ध हुए बिना असली आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। अतः साधक को चाहिये कि देहाभिमान का त्याग करके चाह से रहित हो जाय। यही चित्त शुद्धि का उपाय है। चित्त शुद्ध होने पर स्वतः ही योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है।

(29)
(अपनी योग्यता और सामर्थ्य से अधिक खर्च करना तथा मान–बड़ाई आदि के उद्देश्य से खर्च करना असाधन है और प्राप्त योग्यता आदि का सदुपयोग न करना भी असाधन है)

प्राप्त योग्यता और शक्ति से अधिक के लिये चेष्टा करने से और उसको पूर्णतया न लगाने से भी मनुष्य का चित्त शुद्ध नहीं होता। जिसके पास धन नहीं हो और वह यदि दान दे, ब्राह्मण और साधुओं को खिलावे तो उसका चित्त शुद्ध नहीं होता; क्योंकि जो दानी कहलाने के लिये या अपनी इज्जत बनाये रखने के लिये दान किया जाता है, उससे अभिमान पुष्ट होता है। इसी प्रकार जो तप तपस्वी कहलाने के लिये जो योग योगी कहलाने के लिये, जो त्याग त्यागी कहलाने के लिये और जो संयम संयमी कहलाने के लिये किया जाता है, उससे दम्भ और अहंभाव बढ़ता है, अतः उससे चित्त शुद्ध नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि जिसके पास धन नहीं है, वह बाहर से अपने शरीर को जितना सजाता है, धनी आदमी उतना नहीं सजाता, क्योंकि जो योग्यता जिसमें सचमुच होती है, उसे उसका प्रदर्शन करने का शौक नहीं होता, वह तो उसका स्वभाव बन जाता है। अतः उसके मन में उसकी कोई विशेषता नहीं होती।

जो साधु या प्रचारक अपने अनुयायियों से उनकी योग्यता से अधिक खर्च करवाता है, वह उनकी बेईमानी करने के लिये प्रोत्साहन देता है तथा जो मनुष्य इज्जत बढाने के लिये योग्यता से अधिक खर्च करता है, वह बेईमानी करने की तैयारी करता है।

हैसियत से अधिक खर्च करने वाला सदा धन के लोभ से अशान्त रहता है। उसको इज्जत का भय बना रहता है। अतः उसके चित्त में दोष उत्पन्न होते रहते हैं एवं जो योग्यता के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर भी खर्च नहीं करता, उसका चित्त भी शुद्ध नहीं हो सकता।

प्रायः देखा जाता है कि लोग वह साधन करना चाहते हैं, जो उनकी योग्यता और रुचि के अनुकूल नहीं होता और उस साधन को नहीं करते जो वे कर सकते हैं; क्योंकि वे साधन में बड़े और छोटे की कल्पना कर लेते हैं और जिसको ऊँचे दर्जे का समझते हैं उसी को करना चाहते हैं। फलतः जो साधन कर सकते हैं, उसमें विश्वास और श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती और जिसे करना चाहते हैं, वह होता नहीं। अतः उनका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

साधक को चाहिये कि अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार साधन–निर्माण करके विश्वास पूर्वक तत्परता के साथ उसमें लग जाय। अपने जीवन में किसी प्रकार के दम्भ और दिखावे को स्थान न दे। मन को भगवान में लगावे, बुद्धि को अपना दोष देखने में लगावे, शरीर को सर्वहितकारी कर्म में लगावे। प्राप्त शक्ति में आसक्त न हो, अप्राप्त का चिन्तन न करे। किसी प्रकार के गुण और दोषों का अभिमान न करे; क्योंकि अभिमान के रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

जब साधक का ईश्वर पर अपने–आप पर और कर्तव्य पर विश्वास हो जाता है, तब उसके मन में किसी प्रकार का भय या चिन्ता नहीं रहती। भय और चिन्ता का सर्वथा अभाव हो जाना ही चित्त की शुद्धि है। साधक के जीवन में न वस्तुओं के नाश का भय होना चाहिये न मृत्यु का, न किसी अन्य प्रकार का भी भय होना चाहिये। उसे तो सदा भगवान की महिमा को समझकर सदा के लिये निर्भय हो जाना चाहिये।

भय तो उसको होता है जो शरीर और संसार पर विश्वास करता है एवं जिसके पास कुछ होता है। जिसके पास अपना कुछ भी नहीं होता, जो सर्वस्व भगवान को सौंप चुका है, उसको भय क्यों होगा।

कर्तव्य विश्वास और आत्मविश्वास का भी आधार ईश्वर विश्वास ही है। उसके बिना दूसरे विश्वास सुरक्षित नहीं रहते।

चित्त की शुद्धि के लिये अहंता और ममता का नाश अनिवार्य है। विचार मार्गी पहले अहंभाव को मिटाता है, अहं न रहने से ममता अपने–आप

मिट जाती है। भगवद् विश्वासी पहले ममता का त्याग करता है, फिर उसका अहंभाव गलकर अपने प्रियतम की प्रीति बन जाता है।

माने हुए अहंभाव के मिटने से 'है' का बोध हो जाता है और ममता मिटने से प्रेम का उदय होता है। अतः अहं और मम मिटने से बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है—जो चित्त शुद्धि का वास्तविक फल है।

(30)

(जीवन में परिवर्तन न होने का कारण सुख—दुःख के जाल में फँसे रहना है; सम्मिलित कुटुम्ब में हरेक खर्च घरवालों की सम्मति से करना चाहिये — वस्तु की आवश्यकता का त्याग, भगवान का विश्वास और प्रेम)

यह बात कही गयी थी अहंता और ममता का नाश होने पर चित्त शुद्ध होता है। अब यह विचार करना है कि मनुष्य को यह मालूम हो जाने के बाद भी अहंता और ममता मिटती क्यों नहीं? विचार करने पर मालूम होगा कि हम वर्तमान जीवन में सन्तुष्ट हैं, इसी में किसी—न—किसी प्रकार का सुख मानते हैं। इस कारण जीवन के परिवर्तन की आवश्यकता का ज्ञान नहीं होता। जब तक मनुष्य सुख पूर्वक या दुःख पूर्वक वर्तमान स्थिति में रह सकता है, तब तक उसका जीवन परिवर्तित नहीं होता। जब तक मनुष्य सुख—दुःख के जाल में फंसा रहता है, तब तक, वह बड़े—से—बड़ा तपस्वी और संयमी हो जाने पर भी उसके जीवन जो परिवर्तन होना चाहिये, वह नहीं होता। उसके सभी प्रयत्न विफल होते रहते हैं।

कामना की पूर्ति न होने पर भी अभाव बना रहता है, उसकी पूर्ति नहीं होती। कामना की पूर्ति न होने पर भी पूर्ति की आशा बनी रहती है। इस प्रकार सुख में दुःख और दुःख में सुख की लालसा मिली रहने के कारण मनुष्य सुख—दुःख के जालमें फँसा रहता है।

सुख और दुःख का आक्रमण बड़ा भयंकर होता है। उस समय प्राणी के मन के दो भाग हो जाते हैं, भीतर का मन कुछ और रहता है, बाहर का

कुछ और रहता है। उस समय प्राणी उपदेश की बात नहीं सुनता। दूसरे के समझाने पर वह ऊपर से हाँ–हूँ कर देगा, परन्तु भीतर में उस परिस्थिति के चिन्तन में ही डूबा रहेगा। जिसका धन चला गया हो उसे कोई समझाये, धन के दोष बतलाये तो वह नहीं सुनेगा। उस समय यदि कोई धन–प्राप्ति का उपाय बताये, उसके लिये मन्त्र, जप आदि का अनुष्ठान बताये, तो बड़े गौर से सुनने लगेगा और वह बात उसे बहुत आबद्ध कर देते हैं। प्रिय मालूम होगी। इस प्रकार सुख और दुःख मनुष्य को एक अवस्था में आबद्ध कर देते हैं।

यदि दुःख का पूर्ण विकास हो जाय तो उसका दुःख अवश्य मिट जाता है। पूरे दुःखमें दुःख का चिन्तन करने की शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार अत्यन्त सुख में भी होश नहीं रहता। उस समय मनुष्य बेहोश या मूछित हो जाता है। परंतु प्रायः मनुष्य न तो पूर्ण सुखी ही होता है, न पूर्ण दुःखी ही होता है। ऊपर से दुःख का भान और भीतर से सुख की लालसा बनी रहती है। कुछ इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं, कुछ पूरी नहीं होतीं। यह अवस्था जीवन में परिवर्तन नहीं लाने देती।

साधक को विचार करना चाहिये कि मेरे मन में संकल्पों का उदय ही क्यों होता है। किसी–न–किसी प्रकार का राग वर्तमान है, उसी से संकल्प होते हैं। अतः मुझे राग का नाश करना चाहिये।

जिसके पास धन न हो, उसे दान करने का संकल्प नहीं उठने देना चाहिये; क्योंकि धनकी प्राप्ति या तो परिश्रम से होती है या कोई अपना मान कर दे दे, तब। जिसको न तो श्रम के बदले में धन मिला है और न किसी ने स्वेच्छा से उसे धन दिया है, ऐसी परिस्थिति में यदि वह अपने घर वालों पर दबाव डाल कर दान करने या अपने इच्छानुसार खर्च करने के लिये उनसे धन लेने की चेष्टा करता है तो आपस में मनोमालिन्य होता है। इससे चित्त अशुद्ध होता है; क्योंकि किसी के दुःख से मिली हुई वस्तु कालान्तर में दुःख के रूप में सामने आती है। जिस दान के देने में देने वाले को या उसके सम्बन्धियों को दुःख होता है, वह दान लेने और देने वाले को दोनों

में से किसी को भी लाभ देने वाला नहीं होता। दान तो संग्रह करने का टैक्स है। इससे चित्त शुद्धि का सम्बन्ध नहीं है। वह काम यदि अपने परिश्रम से कमाये हुए धन से सबकी प्रसन्नता युक्त सम्मति प्राप्त करके इस भाव से करे कि भगवान की वस्तु भगवान के काम में लग रही है, मैं भी उन्हीं का हूँ और लेने वाला भी उन्हीं का है, लेना–देना सब उन्हीं की प्रसन्नता के लिये है, तो इस भाव से उसका चित्त शुद्ध हो सकता है। यह महत्त्व भाव का है न कि दान का।

न कमाने वाले का खर्च करना सबको बुरा लगता है, अतः खर्च करने वाले को यह सोचना चाहिये कि मैं जिस वस्तु को खर्च करना चाहता हूँ उसमें दूसरे का हक होता है। सम्मिलित कुटुम्ब के धन में सभी मेम्बरों का हक होता है। अतः पुत्र को पिता का परामर्श लेना चाहिये, पिता को पुत्र से लेना चाहिये। भाई–भाई को परस्पर परामर्श लेना चाहिये। पति–पत्नी को भी आपस में परामर्श करना चाहिये। इस प्रकार सबकी सम्मति और प्रसन्नता के अनुसार खर्च करना चाहिये। तभी परस्पर का सम्बन्ध रह सकता है, अधिकार के अभिमान में आकर मनमाना दान या किसी प्रकार का खर्च करने में लाभ नहीं होता।

सबकी सम्मति और प्रसन्नता प्राप्त न हो तो करने की अपेक्षा न करना अच्छा है; क्योंकि न करने से भी सब कुछ मिल सकता है, अर्थात् करने की वासना का त्याग करने से साधक को वह प्राप्त होता है जो करने से नहीं होता। साधक को सोचना चाहिये कि यह जगत भगवान के संकल्प से बना है। उसी का संकल्प पूरा होने दें। इस प्रकार जब साधक अपने संकल्प को ईश्वर के संकल्प में मिला देता है, तब उसके करने का संकल्प मिट जाता है।

साधक को चाहिये कि जब किसी वस्तु के अभाव में दुःख हो, तब जिनके पास वह वस्तु भर पूर है उनके जीवन को देखे कि वे सुखी हैं क्या? देखने और उनसे पूछने पर मालूम होगा कि बड़े–से–बड़े धनी, मानी, राजा, महाराजा के अभाव की पूर्ति नहीं हुई। वे भी अपने को दुःखी मानते

हैं। उनके जीवन में भी पूरा सुख नहीं है। यह देख कर वस्तुओं के अभाव की पूर्ति की आशा छोड़ दे और अपनी वास्तविक आवश्यकता को समझे, क्योंकि उसको जाने बिना और उसके लिये दूसरी सब वस्तुओं की चाह छोड़कर एकमात्र उसी की पूर्ति के लिये व्याकुल हुए बिना वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

साधक को अपना जीवन इतना सुन्दर बनाना चाहिये जिससे उसकी प्रत्येक आवश्यकता दूसरों की आवश्यकता बन जाय, अर्थात् दूसरों को उसके जीवन की आवश्यकता मालूम होने लगे।

ईश्वर विश्वासी साधक कभी भगवान से कुछ चाहता नहीं। भगवान उसे जिस परिस्थिति में रखते हैं उसी में प्रसन्न रहता है वस्तु प्राप्त होने पर तो भगवान के आज्ञानुसार उसका सदुपयोग कर देता है और न मिलने पर भगवान को धन्यवाद देता है। वस्तुओं के मिलने और न मिलने में भी भगवान की कृपा का ही दर्शन करता है।

मन की बात पूरी कर देने से मन नहीं मरता। पूरी न करने का हठ करने से भी मन नहीं मरता। अतः साधक को चाहिये कि न तो मन की बात पूरी न करने का हठ करे और न पूरी कर देने का ही हठ करे। जो कुछ होता रहे उसी में प्रसन्न रहे; क्योंकि वस्तु, अवस्था या अन्य किसी प्रकार की परिस्थिति की चाह न रहना ही मन का मर जाना है।

यदि कोई कहे कि यदि मन में भजन करने की चाह हो तो क्या उसे भी मिटा देना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि मन अपना रहते हुए भजन नहीं होता है। मन के मर जाने पर या प्रभु को सौंप देने पर ही भजन होता है। इसलिये यह प्रश्न नहीं बन सकता।

जो मनुष्य यह सोचता है कि 'लड़का होशियार होने पर काम का भार उसे सँभलाकर भजन करूँगा या अमुक जगह रहकर भजन करूँगा, अमुक प्रकार की परिस्थिति मिलने पर भजन करूँगा।' उसके मन में भजन का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि परिस्थिति और वस्तुओं का है। अतः वह

भजन नहीं कर सकता। जिसको पहला स्थान नहीं दिया जायगा अर्थात् सबसे बढ़कर जिसको महत्त्व नहीं दिया जायगा, वह चीज नहीं आयेगी।

भजन के लिये किसी भी वस्तु और परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है। जिसका भगवान पर विकल्प रहित विश्वास होता है, जो सबसे सम्बन्ध तोड़कर एकमात्र भगवान को ही अपना मान लेता है, उससे भजन अपने–आप होता है, उसे करना नहीं पड़ता। जो किया जाता है, जिससे किसी वस्तु और परिस्थितिका सम्बन्ध है, वह भजन नहीं है। उत्कृष्ट कर्म हो सकता है। उसका फल वर्तमान में नहीं मिलेगा, कालान्तर में मिलेगा।

जिस पर भगवान की कृपा होती है उसको दुनिया से ऐसा थपेड़ा मिलता है, फिर वह उसकी ओर मुँह नहीं करता।

मन की बात का पूरा होना तो एक प्रकार की बेड़ी है। मन में जो संकल्प उदय होते हैं, उनका कारण अविवेक है। इस संसार से जो अपने को मिला रखा है, यही सब दुःखों का कारण है और यही विवेक का अनादर है।

अतः साधक को चाहिये कि प्राप्त विवेक का प्रयोग शरीर पर करे, शरीर की अवस्था को अपनी न माने; क्योंकि शरीर के व्यापार को अपना मानते रहने से बार–बार संकल्प होते रहेंगे, उनका जाल कभी नहीं टूटेगा। अतः विचार करना चाहिये कि यह शरीर वास्तव में है क्या! यह मैं कैसे हो सकता हूँ और यह मेरा कैसे हो सकता है अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार करके इस संसार से और शरीर से अपने को अलग अनुभव करे। भाव यह कि समझ को तो संसार पर लगाये और मन भगवान में लगाये अर्थात् विश्वास और प्रेम भगवान में करे।

विश्वास और प्रेम ही आस्तिकवाद है, विवेक के प्रकाश से प्रकाशित रहना ही दार्शनिकता है।

गम्भीरता पूर्वक विवेक द्वारा शरीर की उत्पत्ति को, स्थिति को और अन्त की अवस्था को देखना, शरीरपर विवेक को लगाना है। समझी हुई बात से आँख मींच लेना अर्थात् उसे जानकर भी बेजानी कर देना–यही

अविवेक है। जो शरीरकी असलियत को देख लेगा, वह संसार की असलियत को भी समझ लेगा एवं जो अपने को देख लेता है अर्थात् मैं कौन हूँ, इसको जान लेता है, वह उस परमेश्वर को भी जान लेता है।

मुक्ति किसी अभ्यास का फल नहीं है, विवेक का फल है भक्ति, भक्ति भी विश्वास और प्रेम से मिलती है, अभ्यास से नहीं मिलती। अभ्यास से तो शक्ति मिल सकती है। भुक्ति अर्थात् सुख–भोग और उसकी चाहने ही मनुष्य को भक्ति, मुक्ति और शक्तिसे अलग किया है।

भक्ति और मुक्ति के मिलने पर शक्ति तो अपने–आप आ जाती है।

ý31ü

ýdju vkj Hkkxu dh vkIfª vkj mldk uk'k dk mik; & -e dk ró le>ku dj fy; fd'kkjh th dh -eyhyk dk o.kuü

पहले यह बात कही थी कि कामना की पूर्ति होने पर भी अभाव रहता है और पूरी न होने पर जो कामना पूरी नहीं होती उसका दुःख होता है। इस प्रकार सुख–दुःख होते रहने के कारण चित्त शुद्ध नहीं होता।

अब विचार यह करना है कि ऐसा क्यों होता है? विचार करने पर मालूम होगा कि प्राणी अनादि काल से 'करता' आया है अर्थात् बोलना, सुनना, देखना, सूंघना, स्पर्श करना, चलना–फिरना, खाना–पीना आदि सभी इन्द्रियों के कर्म 'करने' के अन्तर्गत हैं और इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध होने का नाम ही भोग है। इस 'करने' के अभ्यास से उसकी कर्म में और भोग में आसक्ति हो गयी है। यह आसक्ति ही उसे किसी–न–किसी प्रकार की प्रवृत्ति में लगाये रखती है। 'करना' छोड़ने से अर्थात् करने की वासना से रहित होने पर जो दिव्य जीवन मिलता है, जिसकी प्राणी को परम आवश्यकता है, उसका अनुभव यह आसक्ति ही नहीं होने देती। अतः प्राणी श्करने के अन्तमें कुछ प्राप्त न होने पर भी करने में ही लगा रहता है,

उसे छोड़ता नहीं। सुनना बन्द करे तो देखने लग जाता है, देखना बन्द करे तो बोलने में लग जाता है। इसी प्रकार कुछ–न–कुछ करता ही रहता है।

जब ऊपर से 'करना' छोड़ देता है, तब भीतर में मनो राज्य करने लगता है। आसक्ति के कारण जो संस्कार जम गये, उनकी स्मृति होती रहती है। सुख नहीं रहता परंतु उसकी आसक्ति रहती है। उसका नाश नहीं होता। उस आसक्ति के कारण बीती हुई बातका स्मरण (चिन्तन), वर्तमान में प्रवृत्ति और भविष्य की आशा नहीं मिटती, इस कारण चित्त शुद्ध नहीं होता।

साधक को अपने प्राप्त विवेक का आदर करके विचार करना चाहिये कि जो कुछ देखने–सुनने में आता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जानने में आता है वह सभी दृश्य परिवर्तन शील और अनित्य है। अतः उनके द्वारा जो कुछ किया जाता है वह भी अनित्य है। इन सबका परिवर्तन हो रहा है, परंतु मेरा परिवर्तन नहीं होता। इनके न रहने पर भी मैं रहता हूँ, शरीर बदल गया, परिस्थिति बदल गयी परंतु मैं वही हूँ, जो पहले था। अतः इसके साथ मेरी जातीय एकता नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है, जो मिटाया जा सकता है। इस प्रकार विचार करने के बाद कुछ समय के लिये कुछ भी न करने की स्थिति में रहकर अपने जीवन का निरीक्षण करना चाहिये एवं उस स्थिति का अनुभव करना चाहिये, जो 'न करने' से प्राप्त होती है। ऐसा करने से उस समय साधक को उस आनन्द की झलक मिलती है जो अनन्त काल तक रहने पर कभी नहीं मिली। तब उसको उस दिव्य जीवन की आवश्यकता का अनुभव होता है।

जब साधक शरीर और संसार से माने हुए सम्बन्ध का त्याग करके सब प्रकार की चाह से रहित हो जाता है, तब उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। यहाँ से प्रेम का आरम्भ होता है। इसके पहले की जो भक्ति है वह तो चित्त शुद्धि का ही एक उपाय है। उसे प्रेम नहीं समझना चाहिये।

एक भाई गोपी–प्रेम की बात पूछ रहा था। इसलिये कहना है कि जब तक प्राणी का शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं छूटता, जब तक वह शरीर को मैं और संसार को अपना मानता है तब तक गोपी–प्रेम की बात समझ

में नहीं आती। प्रेमी में चाह नहीं रहती इसलिये प्रेमी अपने लिये कुछ नहीं करता, जो कुछ करता है वह अपने प्रियतम को रस देने के लिये ही करता है। यहाँ तर्कशील मनुष्य यह **प्रश्न** कर सकता है कि भगवान् तो सब प्रकार से पूर्ण और रसमय आनन्द स्वरूप हैं। उनमें किसी प्रकार का अभाव ही नहीं है। उनको रस देने की बात कैसी? उसको समझना चाहिये कि यही तो प्रेम की महिमा है, जो आप्त काम में भी कामना उत्पन्न कर देता है, सर्वथा पूर्ण में भी अभाव का अनुभव करा देता है। प्रेमियों का भगवान् सर्वथा निर्विशेष नहीं होता। उनका भगवान् तो अनन्त दिव्य गुणों से सम्पन्न होता है और उनका अपना प्रियतम होता है। उनकी दृष्टि में भगवान के ऐश्वर्य का भी महत्त्व नहीं है। उनका भगवान् तो एकमात्र प्रेम मय और प्रेम का ग्राहक है।

प्रेमी भगवान को रस देने के लिये ही अपना जीवन सुन्दर बनाते हैं, जैसे सुन्दर पुष्प को खिला हुआ देखकर वाटिका का स्वामी उस फूल से प्रेम करता है, उसको हाथ में लेता है, सूंघता है, उसकी शोभा को देखकर प्रसन्न होता है; वैसे ही भगवान् भी अपने प्रेमी को चाह रहित सुन्दर जीवन युक्त देखकर प्रसन्न होते हैं, उनको उससे रस मिलता है।

पुष्प तो जड होता है, इस कारण स्वयं मालिक से प्रेम नहीं करता। जैसे धन से मनुष्य प्रेम करता है, परंतु धन जड होने के कारण मनुष्य से प्रेम नहीं करता। जीव जड नहीं है, चेतन है इसलिये यह भी अपने प्रियतम से प्रेम करता है अर्थात् भक्त भगवान से प्रेम करता है और भगवान् भक्त से प्रेम करते हैं। भगवान् भक्त के प्रियतम और भक्त भगवान का प्रियतम हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण और किशोरी जी की प्रेम लीला से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है। उनकी लीला अपने भक्तों को प्रेम का तत्व समझाने और रस प्रदान करने के लिये ही हुआ करती है। एक समय श्याम सुन्दर के मन में किशोरी जी को प्रेम रस प्रदान करने के लिये उनकी परीक्षा की लीला करने का संकल्प हुआ, तो आपने एक देवांगना का रूप धारण किया

और किशोरी जी के पास गये। बातचीत के प्रसंग में श्याम सुन्दर ने कहा–'किशोरीजी! आप श्याम सुन्दर से इतना प्रेम क्यों करती हैं? वे तो आपसे प्रेम नहीं करते।' तब किशोरी जी ने कहा–'तुम इस बात को क्या समझो! प्रेम करना तो श्याम सुन्दर ही जानते हैं। वे ही प्रेम करते हैं। मुझमें प्रेम कहाँ है?' देवांगना बोली– 'नहीं–नहीं, वे तो प्रेम नहीं करते, तुम्ही प्रेम करती हो।' तब किशोरी जी ने कहा–'देवी! प्रेम करना जैसा श्याम सुन्दर जानते हैं, वे जितना और जैसा प्रेम करते हैं वैसा कोई नहीं कर सकता।' तब देवांगना बोली–'मैं तो यह नहीं मान सकती।' किशोरी जी ने कहा –'तुमको कैसे विश्वास हो?' देवांगना बोली–'यदि वे आपके बुलाने से आ जायँ तो मैं समझू कि सचमुच वे भी आप से प्रेम करते हैं।' किशोरी जी ने कहा–'यह तो तब हो सकता है जबकि कुछ समय तक तुम सखी बनकर यहाँ रहो।' देवांगना ने किशोरी जी की बात स्वीकार की और उनकी सखी बनकर रहने लगी। तब किशोरी जी ने भाव में प्रविष्ट होकर भगवान से कहा–'प्यारे ! तुम कहाँ हो?' इतना कहते ही देवांगना से भगवान् श्याम सुन्दर हो गये। उनको देखकर किशोरी जी ने कहा–'ललिते ! वह देवांगना कहाँ है ? उसे बुलाकर प्यारे का दर्शन कराओ।' तब ललिता बोली–'प्यारी ! उसी में से यह देव प्रकट हुए हैं, वह अब कहाँ हैं।' ललिता विवेक–शक्ति का अवतार है, यह भक्त और भगवान को मिलाती रहती है। इस लीला से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भक्त भगवान से प्रेम करता है और भगवान भक्त से प्रेम करते हैं।

प्रेमी भक्त और भगवान् अभिन्न होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक हैं। इस पर भी भगवान की एक लीला याद आ गयी।

एक दिन श्याम सुन्दर किशोरी जी के मुख की ओर देख कर बोले–'प्यारी! तेरा मुख तो मानो चन्द्रमा है और मेरे नेत्र चकोर हैं। ये उसे देखते–देखते कभी तृप्त ही नहीं होते।' तब किशोरी जी ने कहा–'प्यारे ! तुम चन्द्रमा की उपमा देकर स्तुति में मेरी निन्दा क्यों करते हो? चन्द्रमा तो घटता–बढ़ता है, उसमें तो विष है, वह तो कलंकित है, उसके साथ मेरे

मुखकी उपमा कैसे हो सकती है?' श्याम सुन्दर बोले–'प्यारी मैं तो तुम्हारे मुख की निन्दा नहीं करता, चन्द्रमा के शीतल प्रकाश और उसकी सुन्दरता से तुलना करके तुम्हारे मुख की शोभा का वर्णन करता हूँ।' किशोरी जीने कहा–'ऐसी बात नहीं है। तुम तो स्तुति में निन्दा करते हो।' इतना कहकर किशोरी जी वहाँ से अन्तर्धान हो गयीं। तब श्याम सुन्दर विरह में व्याकुल होकर किशोरी जी को खोजने के लिये वन–वन भटकने लगे। इधर किशोरी जी विरह–व्याकुल होकर भगवान में तन्मय हो गयीं और अपने को श्याम सुन्दर समझने लगीं। वह भी वन में किशोरी जी को खोजने लगीं। रास्ते में दोनों की भेंट हुई। वे कहने लगे–'मैं नन्दलाल हूँ।' वह कहने लगीं–'मैं नन्दलाल हूँ इत्यादि।'

प्रेम की ऐसी महिमा है। उसे न भेद कहा जा सकता है, न अभेद ही कहा जा सकता है। उसमें दूरी भी नहीं है, एकता भी नहीं है। प्रेम का स्वरूप वर्णन करने में नहीं आता।

अभेद वाद में तो जीव में ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा होती है, ब्रह्म में नहीं। अतः जैसे समुद्र अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है, उसे नदी की आवश्यकता नहीं होती, नदी ही समुद्र की ओर चलकर उसमें मिलती है; उसी प्रकार–जिज्ञासु ब्रह्म को प्राप्त होकर उसमें एक हो जाता है, उसमें भिन्नता नहीं रहती। इसी प्रकार योगी भी कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है। परन्तु प्रेम में तो एक–दूसरे को रस प्रदान करते रहते हैं। अतः प्रेम रस अनन्त है, उसकी कभी पूर्ति नहीं होती।

साधक का प्रयत्न तो चित्त शुद्धि तक ही है। उसके बाद साधक जिस भाव को लेकर साधन आरम्भ करता है उसके अनुसार मुक्ति, योग और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। जो किसी प्रकार के भाव को लेकर नहीं चलता, उसको सभी मिल जाते हैं।

प्रेम में देने का भाव रहता है, लेने की इच्छा नहीं रहती। सच्चा सेवक स्वामी से कुछ चाहता नहीं, उनके सुख में ही सुखी रहता है। माता पुत्र का लाड़–प्यार करके उसे सुख देने में ही प्रसन्न रहती है, मित्र एक–दूसरे को

सुख देता है। पति–पत्नी आपस में एक–दूसरे को सुख देते हैं। कोई भी एक–दूसरे से कुछ लेना नहीं चाहता। इस प्रकार चारों प्रकार के भक्तों का भाव समझ लेना चाहिये।

ý32ü

ý'kjhj vkj lalkj l lEcU/k foPNn dk mik;(tkudkjh d vuqlkj thou vkj ekU;rk d vuqlkj dr0;&ikyu djuk & viu vf/kdkj dk R;kx vkj nlj d vf/kdkjdh j{kk] ^'kjhj e ugh g^ ;g Bhd&Bhd le>uk vko';dü

यह बात पहले कही गयी थी कि शरीर और संसार के माने हुए सम्बन्ध का त्याग करने से चित्त शुद्ध होता है। उसी पर फिर विचार किया जाता है कि इस सम्बन्ध का त्याग कैसे हो?

विचार करने पर मालूम होता कि प्राप्त विवेक का आदर करके उसके अनुसार जीवन बनाने से और मान्यता के अनुसार कर्तव्य का पालन करने से सहज ही शरीर और संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है।

हरेक मनुष्य की योग्यता में भेद होता है। इसलिये कर्म में और भोगों में एक मनुष्य की दूसरे से समानता नहीं हो सकती। तो भी प्राणी सुख, दुःख और परिस्थिति में दूसरे की बराबरी करना चाहता है। भगवान का चिन्तन करने में और चाह रहित होने में सभी स्वतन्त्र हैं। अतः इसमें समानता है। परन्तु इसमें लोग बराबरी नहीं करते हैं। कह देते हैं हमारे भाग्य में नहीं बदा। हमारी योग्यता नहीं है, शक्ति नहीं है इत्यादि।

प्रभु–चिन्तन करने से अथवा किसी प्रकार का कभी चिन्तन न करने से ही प्रभु की प्राप्ति होती है। इन दोनों मेंसे कोई भी साधन हरेक साधक अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार कर सकता है। साधन में भेद होने पर भी फल में भेद नहीं है।

साधक को मन की आवाज का अनुकरण न करके विवेक की आवाज पर ध्यान देना चाहिये। विवेक की आवाज बड़ा महत्त्व रखती है, मन हर

समय धोखा देता रहता है, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भोगों की ओर है; अतः साधक को अपने साधन का निर्माण योग्यता के अनुसार विवेक के प्रकाश में करना चाहिये। लोगों की देखा देखी मनमाना साधन करने से चित्त शुद्ध नहीं होता।

साधक को चाहिये कि अपनी जानकारी के अनुरूप अपना जीवन बनावे और मान्यता के अनुसार कर्तव्य का पालन करे। दूसरों की जानकारी का अनादर न करे और किसी प्रकार का सन्देह न करे। इससे चित्त शुद्ध होता है।

जब तक साधक मानता कुछ और है तथा करता कुछ और ही है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता है।

चित्त की शूद्धि किसी कर्म या प्रारब्ध का फल नहीं है। वह तो प्राप्त योग्यता के सदुपयोग से ही होती है। कर्म का फल तो सुख–दुःख का भोग तथा परिस्थिति है।

जो मनुष्य न तो अपनी जानकारी का आदर करता है और ईश्वर पर विश्वास करता है उसके जीवन का परिवर्तन नहीं होता।

पहले कहा गया था कि विवेक का आदर करके विचार करने पर हरेक मनुष्य समझ सकता कि शरीर का परिवर्तन होता रहता है, पर मेरा नहीं होता। शरीर न रहने पर भी मैं रहता हूँ। जिसको मैं अपना कहता हूँ, वह मैं खुद नहीं होता। यह हरेक कहता है कि हाथ मेरा है, देह मेरी है, सिर मेरा है, आँख मेरी है, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है इत्यादि। इन्हीं के समुदाय का नाम शरीर है। अतः शरीर मैं नहीं हूँ। यह सभी समझ सकते हैं। तो भी कितने आश्चर्य की बात है कि अपने को बुद्धिमान् कहने वाले भी यही मानते हैं कि शरीर ही मैं हूँ। इससे भिन्न जो एक दिव्य और नित्य जीवन है, उसका अनुभव नहीं करते, यही अपनी जानकारी का अनादर करना है।

इसी प्रकार यह बात है कि हरेक मान्यता के साथ उसका विधान रहता है जो अपने को जैसा मानता है, उस मान्यता के अनुरूप विधान ही

उसका कर्तव्य है, परन्तु भोगों में आसक्त मनुष्य उसका पालन नहीं करता। कहता है– है 'मैं हिन्दू हूँ' परन्तु उसका एक विधान जो **'आत्मवत्सर्वभूतेषु'** है उसे क्रियात्मक रूप नहीं देता। अपने को ब्राह्मण मानता है; परंतु ब्राह्मणके शम–दमादि कर्तव्य का पालन नहीं करता। इसी प्रकार हरेक वर्ण–आश्रम के विषय में समझ लेना चाहिये। मान लेता है कि मैं आत्मा हूँ, पर **'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि...'** को भूल जाता है और मरने से डरता रहता है। अपने को मनुष्य मान कर भी, उसका कर्तव्य जो अपनी निर्बलता को देखना और मिटाना है, उसका पालन नहीं करता। अपने को पुरुष मानकर भी, पुरुष का कर्तव्य जो पत्नी की इच्छा पूर्ण करना है, वह नहीं करता। अपने को स्त्री मानती है; परन्तु स्त्रीका कर्तव्य जो पति की आज्ञा मानना है, उसका पालन नहीं करती। यही बात हरेक मान्यता के विषय में लागू होती है। यदि मनुष्य अपनी मान्यता के अनुसार कर्तव्य–पालन करे, तो उसका संसार से वैराग्य हो जाय, यह नियम है, क्योंकि कर्तव्य–विधान का नाम ही धर्म है और धर्म–आचरणका फल वैराग्य है।

साधक को चाहिये कि जानकारी के अनुरूप विकल्प रहित जीवन बनावे एवं अपनी मान्यता को क्रियात्मक रूप दे। यदि मान्यता के अनुसार कर्तव्य–पालन न कर सके तो उस मान्यता का ही त्याग कर दे। साधक को अपनी योग्यता का पूरा–पूरा ध्यान रखना चाहिये। यदि साधक की प्रवृत्ति कर्तव्य के विपरीत रहेगी तो उसके जीवन में द्वन्द्व होगा। यदि वह गृहस्थ है और ठीक–ठीक उसके विधान का पालन करता है तो जीवन का विकास होगा।

संसार पर जो मनुष्य का अधिकार है, उसका त्याग करने से ही मनुष्य संसार से उऋण हो सकता है। जब तक अपने अधिकार का अभिमान रहता है, तब तक न तो उसका चित्त शुद्ध हो सकता है, न वह संसार को छोड़ सकता है और न उसके ऋण से ही मुक्त हो सकता है; क्योंकि वह संसार से कुछ–न–कुछ लेना चाहता है, उसकी चाह का अन्त नहीं होता।

यदि साधक दूसरे के अधिकार की रक्षा न कर सके तो उसे चाहिये कि दूसरों से क्षमा माँग ले और अपनी अधिकार–पूर्ति की आशा छोड़कर संसार से सम्बन्ध का त्याग कर दे। संसार से सम्बन्ध छूटते ही अपने–आप ईश्वर से सम्बन्ध जुड़ जायगा।

जब तक मनुष्य मान्यता तो केवल कथन मात्र में रखते हैं और जीवन में देहभाव रखते हैं, विधान का पालन नहीं करते तब तक उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। देहभाव भोगों में फँसाता है। इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख–इनकी उत्पत्ति देहभाव से ही होती है।

जब यह निश्चय हो जाता है कि शरीर मैं नहीं हूँ तब उसके बाद भोग वासना का उदय नहीं होता। बिना भोग वासना के इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख नहीं होते। चित्त शुद्ध हो जाता है। शरीर मैं नहीं हूँ, इस बात को ठीक–ठीक समझ लेने से ही बेड़ा पार हो जाता है।

मैं शरीर नहीं हूँ, यह निश्चय करना ही पहली साधना है। क्योंकि भोग वासनाओं ने ही मनुष्य को देह भाव में आबद्ध कर रखा है। इसलिये जब तक यह निश्चय नहीं हो जाय कि मैं शरीर नहीं हूँ, तब तक उस पर बुद्धि को लगाते रहना चाहिये। चित्त शुद्ध होने पर ईश्वर–प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाता है।

जो अपने को नहीं जानता वह ईश्वर को कैसे जान सकता है। अतः साधक आत्मा और परमात्मा को बुद्धि से जानने की कोशिश न करे; क्योंकि आत्मा और परमात्मा बुद्धि का विषय नहीं है, साक्षात्कार का, बोधका विषय है।

मैं शरीर नहीं हूँ, यह जान लेने से समस्त वासनाओं का अन्त हो जायगा, चित्त स्थिर हो जायगा, बुद्धि सम हो जायगी। समस्त दुःखों का अभाव हो जायगा। उसके बाद केवल ईश्वर के प्रेम की लालसा रह जायगी और कोई कर्तव्य शेष नहीं रहेगा। ईश्वर–प्रेम की लालसा ईश्वर से मिला देगी।

ý33ü
ýlRlx dju dh jhfr(mld }kjk lk/ku&fuek.k & viu food dk vknj(lk/ku e fuLUngrkü

आज कल लेख–प्रकाशन और व्याख्यानों का जो रिवाज चल पड़ा है, सच कहा जाय तो इसमें लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है। शिक्षा की दृष्टि से तो लाभ है, जानकारी बढ़ती है, परन्तु व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति को लेकर विचार किया जाय तो लाभ नहीं है; क्योंकि लेख और व्याख्यान हरेक प्रकारके अधिकारियोंकी योग्यता पर ध्यान रखकर लिखे जाते हैं। किसी एक साधक के लिये नहीं होते। नाना प्रकार की बात सुनने से साधक अपनी योग्यता के अनुसार किसी एक साधन का निर्माण करके साधन को दृढ़ नहीं बना सकता। ऐसी योग्यता तो किसी बिरले साधक में ही होती है जो अपने विवेक–बलसे साधन का निर्णय करके उस पर दृढ़ निष्ठा कर ले। उसके बाद जहाँ कहीं सन्देह हो, किसी प्रकार की उलझन मालूम हो, उसका समाधान महापुरुषों के लेखों द्वारा, सद्ग्रन्थों द्वारा या व्याख्यान में सुने हुए उपदेश द्वारा कर ले और अपनी निष्ठा दृढ़ कर ले। अधिकांश लोग तो दुविधा में ही पड़ते हैं।

पहले सत्संग की प्रणाली बड़ी अच्छी थी। जब किसी के मन में संसार से विरक्ति होती, तब वह किसी गुरु की खोज करता, तीव्र जिज्ञासा होने पर उसे गुरु मिलता, फिर गुरु पहले उसकी रुचि और योग्यता तथा विश्वास को समझता, उसके बाद जो साधन उसके लिये उपयोगी समझमें आता, वह उसे बताता और वह साधक अपने साधन का लोगों में प्रचार नहीं करता, अपितु उसके अनुसार अपना जीवन बनाकर, अर्थात् सुने हुए उपदेश को भली भाँति आचरण में लाकर और योग, बोध या प्रेम को प्राप्त करके पीछे दूसरे को उसके अधिकारानुसार बताता। इस प्रकार जो प्रचार होता वह ठोस होता और उससे **उत्तरो**त्तर व्यक्तियों का निर्माण होता रहता।

आजकल के प्रचार से जानकारी तो बढ़ती है, परन्तु उसके अनुसार साधना में प्रवृत्ति नहीं होती।

साधक को चाहिये कि अपनी साधना को दृढ़ करने के लिये, अपने सन्देह, दुविधा और उलझनों को मिटाने के लिये सत्संग करे। दूसरे को सिखाने के लिये नहीं।

परम सुहृद् परमेश्वर ने कृपा करके सभी मनुष्यों को विवेक शक्ति प्रदान की है। मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, यह सभी जानते हैं; परन्तु अपने विवेक का आदर न करने के कारण मनुष्य अपना जीवन उन्नत नहीं कर पाता। ग्रन्थ, गुरु और व्याख्यान वही बात बताते हैं जो साधक में पहले से ही बीज रूप में विद्यमान होती है। वे किसी में कोई नयी शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। जैसे पृथ्वी में जैसा बीज पड़ता है, वैसा ही वृक्ष हो जाता है। जो शक्ति बीज होती है उसी का विकास पृथ्वी, जल, सूर्य, चन्द्र, आकाश और वायु की सहायता से होता है। इसी प्रकार जिसमें देखने की शक्ति होती है उसी को सूर्य अपने प्रकाश से सहायता पहुँचाता है इत्यादि।

इससे यह सिद्ध हुआ कि गुरु, ग्रन्थ और सत्संग साधक में विद्यमान विवेक शक्ति को ही विकसित कर सकते हैं। कोई नयी शक्ति प्रदान नहीं कर सकते। गुरु का उपदेश, शास्त्रों का प्रमाण और अपना अनुभव तीनों मिलने से अर्थात् तीनों की एकता होने से साधक का भाव परिपक्व हो जाता है और वह यह निश्चय कर सकता है कि मुझे अमुक साधन करना है।

अतः साधक को चाहिये कि अपने विवेक का आदर करके उसके प्रकाश में सत्संग करे और उससे अपनी उलझन मिटाकर विश्वास को दृढ़ बनाये एवं अपने विश्वास, रुचि और योग्यता के अनुरूप साधन–निर्माण करके उसके अनुसार जीवन बनाने के लिये तत्पर हो जाय, साधन में किसी प्रकार का सन्देह न करे। यह निश्चय रखे कि मुझे इसी से अवश्य लक्ष्य की प्राप्ति होगी और वह वर्तमान में ही होगी।

जो अपने विवेक का आदर नहीं करता, वह सत्संग से भी लाभ नहीं उठा सकता।

जब साधन का निर्माण साधक के विश्वास, रुचि और योग्यता के अनुसार ठीक–ठीक हो जाता है, तब साधक को अपना साधन परिश्रम नहीं मालूम होता, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं रहती, प्रत्युत साधन उसका जीवन बन जाता है। उसके बिना वह रह नहीं सकता। सच्चे साधक में अपने साधन को लेकर किसी प्रकार का अभिमान नहीं होता और दूसरे के साधन का वह अनादर नहीं करता। अपने साधन के प्रति उसका इतना प्यार और दृढ़ विश्वास हो जाता है कि साक्षात ब्रह्मा आकर कहें कि 'तुम्हारा साधन ठीक नहीं है, इसे छोड़ दो, मैं तुम्हें दूसरा साधन बताता हूँ।' तो वह यही **उत्तर** देगा कि 'महाराज! इस विषय में मेरे गुरु जितना जानते हैं, आप नहीं जानते। आपको यदि कृपा करनी हो तो ऐसी करो जिससे जो साधन मैं करता हूँ उसमें मुझे सफलता मिले। मैं अपना साधन छोड़ नहीं सकता।'

जब साधक का अपने साधन पर दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब वह जिस आर्ष ग्रन्थ को देखता है, उसी में उसको अपने साधन की, अपने सिद्धान्त और मान्यता की प्रधानता दीखती है। दूसरे सब साधन उसके सहयोगी मालूम होते हैं। इसके पहले जब तक साधक की एकनिष्ठा नहीं होती, तब तक उसको अनेक साधन दीखते हैं एवं जब सिद्ध–अवस्था हो जाती है, उसके बाद तो सभी साधन उपयोगी दिखायी देने लगते हैं' परन्तु साधन–अवस्था में साधक को अपना साधन और अपना माना हुआ सिद्धान्त ही सर्वोपरि दीखता है। ग्रन्थों की अनेक टीका बनने का यही कारण है। जो जिस मार्ग से चलता है, उसे वही मार्ग सत्य मालूम देता है। साधक को इधर–उधर के मार्ग नहीं दीखते। या तो गन्तव्य स्थानपर पहुँचने के बाद सब रास्ते दिखलायी देते हैं या चलना आरम्भ करने के पहले अनेक मार्ग दीखते हैं। चलना आरम्भ करने के बाद तो उसे वह एक ही मार्ग दीखता है, जिस पर वह चलता है।

ý34ü

ýjkx&}"k dk rFkk 0;Fk fpUru vkj p"Vk dk R;kx & ?kVuk dk vFk dk le>u dh jhfr(viuh xyrh dk n[k] nljk dh vkj u n[k] or eku d lnp;kx dh jhfr & lkj dk lEcU/k -Hk&-e e ck/kd g(gjd dr0; lgh rjhd l ijk djd jkx&}"k l jfgr gkuk vko';dü

चित्त शुद्ध हो जाने पर माना हुआ सम्बन्ध टूट जाता है और अपने नित्य साथी प्रभु से सम्बन्ध हो जाता है।

जिन व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियों के बिना हम दुःख पूर्वक या सुख पूर्वक अथवा बिना सुख–दुःख की भावना के रह सकते हैं और रहते हैं, उनका सम्बन्ध ही माना हुआ सम्बन्ध है। जिनमें मनुष्य का राग होता है, उनके बिना तो वह दुःख पूर्वक रहता है और जिनमें द्वेष है, उनके बिना सुख पूर्वक रहता है तथा जिनमें उदासीन भाव है, उनके बिना स्वाभाविक रहता है। ये राग–द्वेष ही बन्धन हैं। ये ही चित्त की अशुद्धि के मूल कारण हैं, इनके रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

मनुष्य का अधिकांश समय व्यर्थ चेष्टा में व्यतीत होता है। शरीर से तो व्यर्थ चेष्टा उतनी अधिक नहीं होती, परन्तु मन तो 90 प्रतिशत व्यर्थ चेष्टा में ही लगा रहता है। इससे भी अधिक यदि 91 प्रतिशत कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि आवश्यक संकल्प तो कार्य पूरा होते ही समाप्त हो जाते हैं। इसके सिवा, आवश्यक कार्य करते हुए भी साथ–साथ व्यर्थ चिन्तन होता रहता है।

आपस में मन बहलाने के लिये बातचीत करना व्यर्थ चेष्टा है। जब मनुष्य अनेक प्रकार के दुःखों से घिर जाता है, तब उन दुःखों को दबाने के लिये मन बहलाने की बात सामने आती है। वास्तव में दुःख को दूर करने का यह उपाय नहीं है, प्रमाद है।

इन व्यर्थ की चेष्टाओं का त्याग करने में भी आसक्ति युक्त मनुष्य को कठिनाई पड़ती है। इस पर एक घटना याद आ गयी। एक विद्यार्थी ने यह

छोटा–सा नियम बना लिया कि 'मैं किसी से बिना प्रयोजन नहीं बोलूँगा। या तो मुझे किसी से कुछ पूछना होगा, तब बोलूँगा या मुझसे दूसरा कुछ पूछेगा, तब बोलूँगा।' तो उसके सब मित्र उससे नाराज हो गये; क्योंकि उसने उनके साथ व्यर्थ बातें करनी छोड़ दीं।

संसार सत्य है या मिथ्या, इस पर विवाद करना व्यर्थ है। जो असत्य समझता है, उसे तो कहने की जरूरत नहीं; जो सत्य समझता है, वह भी उससे सम्बन्ध तोड़ना चाहता है। अतः उसे भी संसार की आवश्यकता नहीं। अतः इस पर विवाद करना या विचार करना एकमात्र बुद्धि का व्यायाम है, व्यर्थ चेष्टा है। साधक को इसमें नहीं लगना चाहिये; क्योंकि उसके पास इतना समय ही कहाँ है।

मनुष्य का समय जो अधिकांश व्यर्थ–चिन्तन में चला जाता है, इसके तीन कारण हैं–

1. बीती हुई घटनाओंका चिन्तन, 2. वर्तमानका दुरुपयोग और 3. भविष्य की आशा।

भूतकाल की घटनाका अर्थ न समझने के कारण उसका चिन्तन होता है। यदि मनुष्य विवेक का आदर करके उन घटनाओं के अर्थ को समझ ले तो फिर चिन्तन नहीं होगा। जो कोई घटना होती है, उसका कोई–न–कोई कारण अवश्य होता है। उसमें जो अपनी गलती हुई हो, उसे समझकर तो भविष्य में गलती न करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये। उसका कारण प्रमाद हो तो उसे समझकर सावधान हो जाना चाहिये। हरेक घटना भगवान की इच्छा से होती है और उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हमारा हित निहित रहता है। यह समझकर प्रभु की अहैतु की कृपा का दर्शन करना चाहिये। इस प्रकार उन घटनाओं का अर्थ समझ लेने के बाद उनका चिन्तन नहीं होता।

प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करने से वर्तमान में होने वाली व्यर्थ चेष्टा और चिन्तन मिट सकता है तथा वर्तमान के सदुपयोग से भविष्य भी उज्ज्वल हो जाता है। अतः भविष्य की आशा भी अनावश्यक है। आशा

करने से, उसका बार–बार चिन्तन करने से कोई लाभ भी नहीं होता इसलिये भी आशा करना अनावश्यक है। यह विश्वास होने से भविष्य की आशा भी मिट सकती है।

अतः साधक को चाहिये कि भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को समझे, वर्तमान का सदुपयोग करे और भविष्य की आशा न करे। इस प्रकार सावधानी के साथ व्यर्थ चेष्टा और चिन्तन का त्याग कर देने पर और आवश्यक संकल्पों को पूरा कर देने पर साधक को जो समय और सामर्थ्य मिलती है, वह समय और सामर्थ्य ही उसको उसके लक्ष्य तक पहुँचा देती है।

जिस वस्तु और बल का मनुष्य सदुपयोग नहीं करता, वह वस्तु और शक्ति उससे छिन जाती है, यह प्राकृतिक नियम है। इस रहस्य को समझकर भी मनुष्य को प्राप्त वस्तु और शक्ति का सदुपयोग करना चाहिये।

चेष्टा करने पर भी जो व्यर्थ चिन्तन नहीं छूटता, इसका एक कारण यह भी है कि बहुत–सा कूड़ा–करकट मनुष्य के मन में पहले का भरा हुआ है, उसे तो निकालना ही पड़ेगा; अतः अपने मन की बात मित्र के सामने या जो भी कोई अपना विश्वासी हो, उसके सामने सरलता से प्रकट करके निकाल देनी चाहिये। जिस किसी प्रकार से उसकी उलटी कर देनी चाहिये, तभी चित्त शुद्ध हो सकेगा पहले की भूलों को याद करके पश्चात्ताप करते रहने से और भविष्य की आशा रहने से चित्त शुद्ध नहीं होता। अतः साधक को चाहिये कि दूसरों में गलती का आरोप करके यानी उसको अपनी गलती में कारण मानकर या अपने ही सदृश दूसरों में गलती देखकर अपनी गलती के दुःख को दबावे नहीं, अपितु उसके दुःख से घोर दुःखी हो जाय। ऐसा करने से भविष्य में गलती नहीं होगी और उस गलती का चिन्तन नहीं होगा, चित्त शुद्ध होने लगेगा; क्योंकि दुःख से चित्त बहुत जल्दी शुद्ध होता है।

वर्तमान का सदुपयोग करने के लिये साधक को चाहिये कि संसार के

साथ अच्छे–से–अच्छा बर्ताव करे। हिन्दू धर्म की परम्परा में यह विशेषता है कि हिन्दू लोग अपने निकटतम सम्बन्धी से तो विश्वास और प्रेम करते हैं एवं अपरिचित मेहमानों का अधिक–से–अधिक सत्कार करते हैं और क्रिया एवं वस्तुओं के द्वारा उनको अधिक–से–अधिक सुख देते हैं। बदले में उनसे कुछ लेते नहीं और उनमें मोह भी नहीं करते। अतः साधक को समझना चाहिये कि मेरे निकट–से–निकटतम सदा के सम्बन्धी एकमात्र प्रभु हैं। अन्य शरीर और पत्नी आदिके सहित सब–के–सब मेहमान हैं; क्योंकि उनका संयोग–वियोग मेहमान की भाँति होता रहता है। यह समझकर उनका जिस प्रकार हित हो, उनके अधिकार की रक्षा हो, उनको सुख मिले और उनकी इच्छा पूर्ण हो, उसी प्रकार प्राप्त वस्तु और शक्ति लगाकर उनकी सेवा करनी चाहिये। पर न तो बदले में उनसे कुछ मिलने की आशा करनी चाहिये और न उनमें मोह ही करना चाहिये तथा विश्वास और प्रेम पूरा अपने प्रभु में लगा देना चाहिये।

साधक को चाहिये कि संसार को न तो अपना विरोधी मानकर उससे द्वेष करे और न उससे अपनत्व का सम्बन्ध जोड़कर राग करे। सर्वथा राग–द्वेषरहित और उदासीन रहे तथा उसके अधिकारकी रक्षा करके उससे उऋण हो जाय; क्योंकि संसार का ऋण रहते हुए उसका सम्बन्ध और चिन्तन नहीं टूटता।

मनुष्य सोचता है कि मेरे पास धन होता तो मैं उसका बहुत अच्छा उपयोग करता। मेरे पुत्र होता तो उसके साथ बहुत अच्छा बर्ताव करता, इस प्रकार अन्य वस्तु और शक्ति के विषय में सोचता रहता है; परन्तु जब वह प्राप्त परिस्थिति का ही सदुपयोग नहीं करता, तब मिलने वाली का सदुपयोग कर सकेगा, यह कैसे माना जा सकता है। उसे विचार करना चाहिये कि मेरे पास धन नहीं है तो शरीर तो है, उसका ही मैं क्या सदुपयोग करता हूँ। पुत्र नहीं तो अन्य कुटुम्बीजन तो हैं, उनके साथ कौन–सा अच्छा व्यवहार करता हूँ। कहाँ उनके अधिकार की रक्षा कर पाता हूँ। जिसके पास आँख नहीं, उसे सोचना चाहिये कि आँख नहीं, पर वाणी

तो है, उसका ही मैं कितना सदुपयोग करता हूँ। इस प्रकार विचार करने पर उसे मालूम हो सकता है कि यह केवल मन का धोखा है। यह झूठमूठ आशा के जाल में फँसा रहकर उसका रस लेना चाहता है।

मनुष्य का मन सांसारिक वस्तुओं में फँसा रहे तो इसका अर्थ यह है कि वह अपने प्रभु से दूर रहना चाहता है, प्रभु के साथ जो उसका नित्य सम्बन्ध है, उसे भूलकर उनसे विमुख रहना चाहता है और जिस संसार के साथ गलतीसे सम्बन्ध जोड़ लिया है, उसके सम्मुख रहना चाहता है, इससे अधिक प्रमाद और क्या हो सकता है? संसार के सम्बन्ध ने ही मनुष्य को प्रभु से विमुख किया है।

अतः साधक को चाहिये कि संसार के सम्बन्ध को तोड़कर सब प्रकार से अपने प्रभु के सम्मुख हो जाय; क्योंकि जब तक मनुष्य संसार और ईश्वर–इन दोनों से सम्बन्ध रखेगा, तब तक दोनों का ही चिन्तन होता रहेगा। एकमात्र भगवान में चित्त नहीं लगेगा। जो साधक भीतर से संसार से सम्बन्ध जोड़े रहता है और ऊपरसे सम्बन्ध तोड़कर भगवान का भजन–स्मरण करने के लिये अलग रहता है उसका मन घर में लगा रहता है, वह भगवान का चिन्तन नहीं कर सकता।

किसी से घृणा करना, उसे बुरा समझकर उससे अलग हो जाना तो मामूली बात है, परंतु भीतर से सम्बन्ध तोड़ना बड़ा कठिन है। उस अलग होने का अर्थ केवल इतना ही होता है कि राग बदलकर द्वेष का रूप धारण कर लेता है। उससे सम्बन्ध नहीं टूटता। जो मनुष्य अपने शरीर से सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता, वह संसार से भी नहीं तोड़ सकता। सम्बन्ध रखते हुए यदि वह हिमालय पर चला जाय तो भी उसका चित्त शान्त और शुद्ध नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि अपने साथियों के अधिकार की रक्षा करता रहे और अपना कर्तव्य–पालन करता रहे। यदि कर्तव्य–पालन न कर सके तो बाहर–भीतर सब प्रकार से सम्बन्ध छोड़ दे। मरने से पहले–पहले संसार से सम्बन्ध तोड़कर अपने प्रभु से अवश्य सम्बन्ध जोड़ ले तथा हरेक

परिस्थिति में प्रभु पर यह विश्वास रखे कि वे जो कुछ करते हैं, अच्छा ही करते हैं। उनके समान मेरा हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। वे यदि कष्ट देते हैं तो बड़ी भारी कृपा करते हैं। मुझसे शीघ्र मिलना चाहते हैं। मेरा हित किसमें है, यह वह ही जानते हैं और मेरे हित का ध्यान उनको मुझसे अधिक है।

एक महात्मा से किसी ने पूछा– क्या आप संन्यासी हैं?' आपने **उत्तर** दिया–'लोग मुझे संन्यासी कहते हैं। वास्तव में संन्यासी तो वह है जो समस्त संकल्पों का त्याग कर देता है।' कितना निरभिमानता का सरल **उत्तर** है।

जब तक मनुष्य न तो सच मुच कुटुम्ब वालों का सम्बन्ध छोड़ता है और न अपने कर्तव्य का पालन ही करता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। शरीर, संसार और माने हुए साथियों से सम्बन्ध टूटने पर ही अपने नित्य साथी प्रभु से सम्बन्ध जुड़ेगा।

अतः साधक को भगवान से सम्बन्ध जोड़कर उनके नाते से समझना चाहिये कि सृष्टि के जितने प्राणी हैं, सभी मेरे प्रेम के अधिकारी हैं; क्योंकि यह सृष्टि मेरे प्रियतम की है, वही इसका स्वामी है। यह प्रभु से मिलने का मार्ग है।

यदि किसी के दोष दिखलायी दें तो भी समझे कि यह व्यक्ति भी मेरे प्रभु का ही है। अतः इससे भी मुझे प्रेम करना चाहिये। सृष्टि के कण–कण से प्रेम करना चाहिये; क्योंकि यह सब भगवान की है। इस भावना से चित्त शुद्ध होता है। साधक को जो काम कर्तव्य–रूप से प्राप्त हो, उसे धीरज और उत्साहपूर्वक करे। उसमें अपने विवेक, स्नेह और शक्ति को भली भाँति लगाकर कुशलता के साथ करे। आलस्य पूर्वक अवहेलना से अथवा उतावलेपन से न करे। करते समय उकताये नहीं। गलत तरीके से किया हुआ काम कर्ता के चित्त को अशुद्ध बनाता है। जो काम सही तरीके से किया जाता है, उसके पूरा होने के बाद वैराग्य, निर्मलता, निर्विकल्पता मिलती है।

जैसे किसी के पैर में काँटा लग गया हो तो उसे निकाल देने पर शान्ति मिलती है। मल–मूत्र के त्याग से शान्ति मिलती है। इसी प्रकार हरेक काम सही तरीके से पूरा कर देनेपर कर्म करने का वेग शान्त होता है, शान्ति मिलती है और चित्त शुद्ध होता है एवं व्यर्थ चिन्तन नहीं होता। चित्त शुद्ध होने पर द्वेष प्रेम में बदल जाता है और दया त्यागमें बदल जाती है।

भक्त के जीवन में कर्म नहीं रहते, सेवा रहती है। वह आज्ञा–पालन के द्वारा महापुरुषों की सेवा करता है, करुणा के द्वारा दुःखियों की सेवा करता है। इसी प्रकार भगवान के नाते सबकी सेवा करता रहता है। विश्वास और प्रेम भगवान से करता है।

(35)
(संसार से सम्बन्ध छोड़कर भगवान को परमदयालु और पतित–पावन तथा अपने को पतित जानकर भगवान से सम्बन्ध स्वीकार कर लें)

साधक को विचार करना चाहिये कि शरीर और संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ने से मुझे क्या मिला। विचार करने पर यही मालूम होगा कि दुःख और अभाव की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। जब यह बात समझमें आ जाय तो फिर उसे यह समझकर कि सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग अनिवार्य है, अवश्य होने वाला है। जब तक तनका नाश न हो जाय, तब तक शरीर और समस्त वस्तुओं को सेवा में लगा देना चाहिये, यही उनका अच्छे–से–अच्छा उपयोग है। वस्तु, शरीर और मन का ठीक–ठीक उपयोग करने से नित्य और अनन्त आनन्द प्राप्त होता है। जो कि जीव की माँग है।

शरीर का, वस्तुओं का ठीक–ठीक उपयोग करना एक चीज है और उनको अपना मानना दूसरी चीज है। अपना मानने वाला, मोहयुक्त प्राणी

उतना अच्छा उपयोग कभी नहीं कर सकता, जितना कि उन सबको भगवान की वस्तु माननेवाला कर सकता है।

हिन्दूधर्म में उत्पन्न होने के नाते उसने ईश्वर के सम्बन्ध में इतना सुना है कि वह ईश्वर को अस्वीकार नहीं कर सकता। वह कैसा है, इस मान्यता में भेद हो सकता है। अतः यदि कोई कहे कि ईश्वर तो निर्गुण और निर्विशेष है, वह तुमसे प्रेम कैसे करेगा? तो साधक को कह देना चाहिये कि 'भाई! मुझे तो ऐसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, मुझे तो वह ईश्वर चाहिये जो पतित–से–पतित प्राणी से प्रेम करता है। जो परम दयालु और सबका सुहृद् है। अपने प्रेमियों को प्रेम का रस देने के लिये ही अवतार लेकर नाना प्रकार की लीला करता है।'

अवतार लेना हमलोगों की भाँति कर्मवश जन्म लेना नहीं है, भगवान का अवतार लेने का मतलब प्रकट होना है। उनका शरीर त्रिगुण माया का कार्य नहीं होता; किंतु परम दिव्य चिन्मय होता है।

भिन्न–भिन्न परिस्थितियों को देखकर मनुष्य समझता है कि ईश्वर न्यायकारी है, परंतु भक्तों का भगवान् केवल न्यायकारी ही नहीं है, वह प्रेमी और कृपालु भी है। सच्ची बात तो यह है कि न्याय के लिये ईश्वर को मानने की कोई जरूरत नहीं थी, कर्मानुसार फल तो ईश्वर को न मानने वालों को भी मिलता ही है। न्यायकारी ईश्वर जीव से प्रेम क्यों करेगा और उससे क्यों मिलेगा; क्योंकि प्रेम और ईश्वर का मिलना किसी कर्म का फल नहीं हो सकता। कर्म का फल तो बार–बार जन्मना और मरना है। अतः जो संसार में ही रमण करना चाहते हैं, उससे ऊपर उठना नहीं चाहते, उनके लिये ईश्वर न्यायकारी हैं। पर जो संसार से ऊपर उठना चाहते हैं, उनके लिये वह न्यायकारी नहीं, परम दयालु हैं।

यदि भगवान् बिना हेतु के दया करने वाले और पतित पावन नहीं होते तो उनको कोई प्राप्त ही नहीं कर सकता; क्योंकि संसार में कौन ऐसा प्राणी है जो पतित न हो। कोई नहीं कह सकता कि मैं पतित नहीं हूँ।

पतित का अर्थ है अपनी जगह पर ठीक–ठीक न रहने वाला। इस दृष्टि से हरेक मनुष्य पतित है।

जो विवेक के द्वारा शरीर से अपने को अलग अनुभव करके कर्मों से सम्बन्ध त्यागकर, सद्गति प्राप्त करना चाहता है उसको भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती। सद्गति तो ईश्वर को न मानने वालों को भी मिल जाती है।

ईश्वर की आवश्यकता तो वास्तव में पतित प्राणी को ही है, क्योंकि भगवान् पतित पावन हैं। अतः साधक का काम है कि उसकी शरण हो जाय। किसी दूसरे को अपना न माने एवं किसी दूसरे की ओर आँख उठाकर न देखे। जो संसार उसका त्याग कर रहा है, उसे ठुकरा रहा है, उसकी आशा न करे।

शरणागत की समस्त आवश्यकता अपने–आप पूर्ण होती है। जैसे कोई फल खरीदने के लिये बगीचे में जाय तो उसे छाया और शुद्ध हवा मुफ्त मिल जाती है। उसे उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता।

अतः साधक को चाहिये कि अपने को पतित जानकर और भगवान को पतित पावन मानकर अपने को उनके समर्पण कर दे। सर्वतो भाव से उनका हो जाय। तभी चित्त शुद्ध होगा।

(36)

(मन के साथ बालक का–सा व्यवहार करना चाहिये; दोषों को मिटाने की और निर्दोषता स्थापन करने की युक्ति – भगवान को प्राप्त करना कठिन नहीं है – बुराई के बदले में भलाई करना ही साधुता है; क्रोध से बड़ी हानि होती है)

साधक का अपने साधन में सद्भाव और प्रीति होनी चाहिये। चित्त की अशुद्धि के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि निर्दोष स्थिति में अपने को दोषी मानना। मन की और बालक की एक–सी दशा होती है।

अतः साधक को मन के साथ बच्ची का–सा व्यवहार करना चाहिये। बालक के मन की सब बात पूरी करने से भी उसका हित नहीं होता और पूरी न करने की कहने से भी उसका सुधार नहीं होता। जो बात उसके हित की हो, पूरी की जा सके, उसे पूरी कर दो और जो पूरी करने योग्य न हो, उसको भुला देने के लिये कोई ऐसी दूसरी वस्तु उसको दे दो जो उसके लिये हितकर भी हो और रुचिकर भी। ऐसा करने से बालक का सुधार सुगमता से हो सकेगा। उसको डराने–धमकाने से, लालच देने से या उसको सदैव बेवकूफ कहते रहने से उसका सुधार नहीं होगा, वह भयभीत, लालची और बेवकूफ बन जायगा। कभी बुद्धिमान् नहीं बनेगा। यही बात मन के लिये समझनी चाहिये।

मन को डराकर, धमकाकर दबाना नहीं चाहिये। उसकी जो इच्छा पूरी करने के लायक हो, उसे पूरी कर देना चाहिये। जो पूरी करने के लायक न हो, उसको भूल में डालकर या समझाकर मिटा देना चाहिये। बदले में कोई अच्छी रुचिकर वस्तु उसके सामने रखकर उसमें मन को लगा देना चाहिये। हर समय उसे दोषी न समझकर उसको अच्छाई दिखाते रहना चाहिये। मन में अपना बल नहीं है, वह हमारी सत्ता पाकर बलवान् होता है और हमसे ही लड़ने लगता है तथा अपनी चाह पूरी करता है। अतः साधक को चाहिये कि मन को अपने साथ मिलाकर उसे सत्ता न दे, अपने को उससे अलग रखकर बालक की भाँति उसका सुधार करे। मन के साथ तद्रूप हो जाने के कारण ही मनुष्य दोषों को जानकर भी मिटा नहीं सकता। मन में दोष आते और जाते रहते हैं। वह सदैव दोषी नहीं रहता। दोष प्राणी का स्वभाव नहीं है। इसलिये वह सदैव नहीं रह सकता। उसका उदय और अन्त अवश्य होता है। निर्दोषता के साथ प्राणी की जातीय एकता है, अतः वह हर समय निर्दोषी रह सकता है। प्रकृति का स्वभाव दोषों को मिटाकर प्राणी को शुद्ध बनाते रहना है। इसलिये प्रकृति किसी को नीचे नहीं गिराती। प्राणी स्वयं ही दोषों का पोषण करके उनको बलवान् बना देता है। दोष के कारण को

मिटा देने से वह सुगमता से मिट सकता है। देह में मैं–भाव और भोगों की चाह, यही दोषों की उत्पत्तिका कारण है।

अतः साधक को चाहिये, जब दोष उत्पन्न हो, उस समय मन को दोषी समझे, दोष के निवृत्ति काल में उसको दोषी न समझे। उसको हर समय दोषी समझने से वह निर्दोष नहीं हो पाता। दोषी बना रहता है। निर्दोषता की स्थापना से दोष अपने–आप मिट जाते हैं; क्योंकि निर्दोषता प्राणी का स्वभाव और जीवन की आवश्यकता है।

जैसे शरीर का नीरोग रहना स्वाभाविक है, अतः वह सदैव नीरोग रह सकता है। बीमारी सदैव नहीं रहती, आती और चली जाती है। इसी प्रकार दोष भी सदैव नहीं रहते, आते हैं और चले जाते हैं। इनको मिटा देना कठिन नहीं है।

अतः साधक को चाहिये कि दोष काल में अपने को दोषी माने और उस समय दोष को देख कर भविष्य में उत्पन्न न होने देने का दृढ़ संकल्प करे। साधक को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'दोष उत्पन्न होने के पहले मुझमें दोष नहीं था और मिट जाने के बाद भी नहीं रहेगा। अतः मैं स्वभाव से निर्दोष हूँ। फिर मुझमें दोष कैसे आ सकते हैं?' इस प्रकार निर्दोष काल में निर्दोषता की दृढ़ भावना करने से दोष मिट जाते हैं और उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती।

जिसको मनुष्य स्वीकार कर लेता है वह दृढ़ हो जाता है। जिसकी है स्वीकृति नहीं रहती उसकी सत्ता मिट जाती है, यह नियम है, अतः जिसको मिटाना हो उसे अस्वीकार कर देना चाहिये। झूठ न बोलने के काल में सभी सत्यवादी होते हैं। झूठ बोली जाकर समाप्त होते ही फिर सत्यवादी हो जाते हैं, हर समय कोई मिथ्यावादी नहीं रहता, इसी प्रकार हरेक दोष के विषय में समझ लेना चाहिये।

यदि कोई कहे कि इससे तो अभिमान बढ़ेगा, तो वास्तव में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जो चीज अपने द्वारा की जाती है, उसी का अभिमान होता

है। स्वाभाविकता का अभिमान नहीं होता, इस पर भी मानो अभिमान हो तो भी, 'मैं दोषी हूँ' इस अभिमान से तो निर्दोषीपने का अभिमान अच्छा ही है।

मनुष्य सोचने लगता है कि भगवान को प्राप्त करना बड़ा कठिन है, यह भूल है; क्योंकि भगवान से हमारी देश काल की दूरी नहीं है। वह हमारी ही जाति का है और हमारे जीवन में उसको प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है। भोगों की प्राप्ति अवश्य कठिन है; क्योंकि उसमें हम सर्वथा पराधीन हैं, उनसे हमारी किसी प्रकार भी एकता नहीं है।

यह ईश्वरीय विधान है कि जो चीज अत्यन्त आवश्यक होती है वह उतनी ही सुगमता से मिलती है। जैसे जवाहरात की मनुष्य को बहुत ही कम जरूरत है, अतः वह बड़ी कठिनता से किसी–किसी को मिलता है और उसकी कीमत भी बहुत अधिक चुकानी पड़ती है तथा उसकी कीमत ठीक–ठीक आँकी भी नहीं जाती। उससे कुछ अधिक जरूरत स्वर्ण की है। उसके मिलने में जवाहरात की अपेक्षा कम कठिनाई है। उसकी कीमत भी समय के अनुसार निश्चित रहती है। उससे अधिक जरूरत चाँदी की है। वह सुवर्ण की अपेक्षा सस्ती और सुगमता से मिलती है। उससे अधिक अपेक्षा खाद्य पदार्थों की है। अतः वे चाँदी से सस्ते और सुगमता से मिलते हैं। उससे भी अधिक आवश्यकता जल की है। उसके बिना प्राणी जी नहीं सकता। अतः अन्न की अपेक्षा जल बहुत सुगमता से मिलता है। जल से भी अधिक आवश्यक सूर्य का तेज और हवा है। वह अपने स्थान पर अपने–आप मिलते रहते हैं। उससे अत्यन्त आवश्यक आकाश है। वह पांच भौतिक शरीर से कभी और अलग नहीं होता। सूर्य की रोशनी और गरमी के लिये तथा वायु आकाश के लिये किसी को भी कोई मल्य नहीं देना पड़ता। इन सबसे अधिक आवश्यक जीवन के लिये भगवान है और उससे किसी की भी दूरी नहीं है। फिर भी उसके मिलने में कठिनता का अनुभव करना प्रमाद के सिवा और क्या हो सकता है।

अतः साधक को विश्वास करना चाहिये कि भगवान् मुझे इसी वर्तमान जन्म में ही अभी मिल सकते हैं। इसमें कोई कठिनता नहीं है। भगवान के

शरण होते ही भगवान् उसे तुरन्त अपना लेते हैं। उसके अनन्त जन्मों के दोष तुरन्त मिटा देते हैं। मनुष्य के अभिमान ने ही उसे बाँध रखा है।

मैं शरीर हूँ यह मानना और संसार को चाहना–यही सब दोषों का मूल है। इनके मिटते ही सब दोष अपने–आप मिट जाते हैं। एक दोष से दूसरे दोष का सम्बन्ध है। इसी प्रकार एक गुण से भी दूसरे गुण का सम्बन्ध है। अतः एक दोष के मिटने से दूसरे सब दोष भी मिट जाते हैं तथा एक गुण को अपनाने से दूसरे गुण भी अपने–आप आ जाते हैं।

मनुष्य में बुराई के संस्कार रहते हैं। बुराई हर समय नहीं रहती, वह मिट जाती है। संस्कार की चाह मिटने से संस्कार भी अपने–आप मिट जाते हैं। वास्तव में चाह को मिटाने में कठिनाई नहीं है। उसे पूरी करने में बहुत कठिनाई है; क्योंकि संसार की सबसे अच्छी चीज किसी एक को ही मिल सकती है। सम्पूर्ण पृथ्वी का यदि कोई सम्राट् हो तो एक ही हो सकता है। हिन्दु स्थान का प्राइम मिनिस्टर एक ही हो सकता है। सबसे अधिक धनवान् कोई एक ही हो सकता है। चाह करने वाले तो बहुत होते हैं, पर पूरी किसी एक की भी सर्वथा नहीं हो पाती। अभाव रहता है और प्राप्त वस्तु के वियोग का भय चाह युक्त व्यक्ति को सदैव रहता है। चाह की पूर्ति में प्राणी सदैव पराधीन है। इसलिये उसकी पूर्ति कठिन ही नहीं, असम्भव है।

किन्तु चाह के त्याग में मनुष्य सदैव स्वतन्त्र है। एक ही काल में अनेक चाह रहित मनुष्य आनन्द से रह सकते हैं। परन्तु चाह युक्त प्राणियों में एक से दूसरे को भय रहता है। किसी चाह को लेकर तप या यज्ञादि कर्म करने वाले से इन्द्र भी सदैव डरता है कि कहीं यह मेरा अधिकार छीन न ले। परन्तु चाह रहित को सभी चाहते हैं। सभी उससे प्यार करते हैं। किसी से कुछ चाहने वाले का पद–पद पर अनादर होता है। चाह रहित का कभी कहीं अनादर नहीं होता। सभी उसका आदर करते हैं। उसको भगवान की कृपा और जगत का आशीर्वाद अपने–आप मिलता रहता है। अतः साधक को चाहिये कि भगवान पर भरोसा करके चाह का त्याग कर दे। मैं

शरीर हूँ, यह मिथ्या मान्यता ही चाह का कारण है। मैं शरीर नहीं हूँ, भगवान का हूँ, यह विश्वास ही इसको मिटाने में पूर्ण समर्थ है।

इसी प्रकार वैराग्य करना, त्याग करना और भगवान को प्राप्त करना भी सुगम है। वे सबको सुगमता से मिल सकते हैं। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। धन और भोग–वस्तुओं को प्राप्त करने में कठिनाई है। त्याग में कोई कठिनाई नहीं है। राग का त्याग ही वैराग्य है। इसमें सभी स्वतन्त्र हैं। वैराग्य से किसी को भय नहीं होता। अतः उसका कोई विरोधी नहीं रहता। जो कोई ईश्वर के लिये व्याकुल होता है, उसे ईश्वर तुरन्त हैं। इसलिये उनका मिलना भी बड़ा सुगम है। उनकी अभिलाषा में ही प्रेम है। अतः साधक को चाहिये कि सब प्रकार की भोगवासना का त्याग करके भगवान के लिये व्याकुल हो जाय और उनकी प्रसन्नता के लिये सबकी सेवा में, सबकी भलाई में लगा रहे।

सन्तों का कहना है कि **'जो तोकों काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल'।** अतः साधक को चाहिये कि बुराई का **उत्तर** भलाई से दे। जो इस मूल मन्त्र को जीवन में ढाल लेता है, वह महान् हो जाता है। राजा में न्याय होता है और साधु में प्रेम होता है।

बुराई के बदले बुराई न करना यह मनुष्यता है। बुराई के बदल भलाई करना कृयह साधुता है। दुःख से मनुष्य का चित्त शद्ध होता है। जो सच्चा दुःखी होता है वह बड़ा सेवक होता है।

क्रोध से बड़ा भारी नुकसान होता है। बना–बनाया काम बिगड़ जाता है। वर्षों से बनाया हुआ काम एक क्षण में क्रोध के कारण बिगड़ जाता है। अतः साधक को कभी किसीपर क्रोध नहीं करना चाहिये।

चित्त शुद्ध होने से सब प्रकार की पूर्णता आ जाती है। योगी को योग, विचारशील को बोध और विश्वासी को प्रेम अपने–आप मिल जाता है।

(37)

(भगवान की आवश्यकता सबको है, पर सुखभोग की चाह के कारण वह दबी हुई है अतः चाह रहित होना जरूरी है – व्यापार का शुद्ध–स्वरूप नित्य आनन्द की प्राप्ति का उपाय – दरिद्रता का कारण लोभ है, उसे मिटाने का उपाय)

पहले यह बात कही गयी थी कि निर्दोषता की स्थापना में चित्त शुद्ध होता है; क्योंकि मनुष्य अपने को जैसा मानता है, वैसा ही बन जाता है। यह प्रकृति का नियम है।

हरेक प्राणी को किसी–न–किसी प्रकार से भगवान की आवश्यकता है, क्योंकि सभी ऐसा सुख चाहते हैं जिसमें दुःख न हो और जिसका कभी अभाव न हो। वह आनन्द भगवान के अतिरिक्त कहीं नहीं है और वह तभी मिल सकता है जब चित्त शुद्ध हो जाय।

प्राणी को जितने भी सुख–दुःख मालूम होते हैं, उन सबका कारण चित्त की अशुद्धि है। जब तक चित्त अशुद्ध रहता है, तब तक उसमें अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इच्छा की पूर्ति में सुख मालूम होता है और अपूर्ति में दुःख। एक इच्छा की पूर्ति होते ही दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सदैव अभाव बना रहता है। यह सुख–दुःखमय जीवन मनुष्य के चित्त की अशुद्धि का परिणाम है।

मनुष्य धन क्यों चाहता है? जिन वस्तुओं की उसे जरूरत है वे धन से मिलती हैं। वस्तुओं की उसे जरूरत क्यों है? भोग–इच्छाकी पूर्ति के लिये। इच्छा की पूर्ति क्यों चाहता है? उसकी पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। वस्तुओं के संयोग में सुख मालूम होता है, यही काम है एवं काम ही लोभ है। अतः यह सिद्ध हुआ कि लोभ के कारण ही मनुष्य को धन की जरूरत होती है। लोभ न रहे तो धन की जरूरत नहीं रहती।

मनुष्य की आगे बढ़ने की, ऊपर उठने की रुचि स्वाभाविक है, जो वस्तु या परिस्थिति उसे प्राप्त है, उससे वह अच्छी चाहता है। जैसा मकान

प्राप्त है, उससे अच्छा चाहता है। वैसा मिल जाय तो उसमें अच्छा चाहता है। जितना धन प्राप्त है, उससे अधिक चाहता है। जितनी भोग सामग्री प्राप्त है, उससे अच्छी और नाना प्रकार की वस्तुएँ चाहता है। जितना सम्मान प्राप्त है, उससे अधिक चाहता है। जो पट या अधिकार प्राप्त है, उससे ऊँचा अधिकार चाहता है। इस प्रकार कभी भी उसकी चाह का अन्त नहीं होता। आगे–से–आगे अभाव बना रहता है और अभावके रहते कभी सुख नहीं मिल सकता।

जब किसी कारण से नुकसान हो जाता है, प्राप्त वस्तु और धन चला जाता है, तब चाहता है किसी तरह खर्च चलता रहे, अधिक नहीं, तो पहले वाली परिस्थिति ही प्राप्त हो जाय, तो मैं सुखी हो जाऊँगा। फिर यदि वह परिस्थिति प्राप्त हो जाती है। तो उससे अधिक चाहने लग जाता है। इस प्रकार मनुष्य नाना प्रकार की इच्छाओं के जाल में फँसा रहता है। वास्तव में वस्तुओं की प्राप्ति उसके सुख–दुःख का कारण नहीं है। चाह की पूर्ति सुख और नयी चाह का होना ही दुःख है एवं चाह की निवृत्ति ही सुख–दुःख से परे की स्थिति है और यही चित्त की शुद्धि है। मनुष्य को जो सुख किसी के दुःख से मिलता है वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिसका जन्म किसी के दुःख से होता है उसका फल भी दुःख ही होगा। आम के बीज का फल भी आम ही होगा और बबूल के बीज का फल काँटा होगा। व्यापार के दो रूप होते हैं–एक तो वह सट्टे का व्यापार है जिसमें जूएकी भाँति किसी एक का नुकसान ही दूसरेका लाभ होता है। इस बात को सभी जानते हैं कि सट्टे में धन बाहर से नहीं आता। सट्टा करने वालों में ही एक का नुकसान और दूसरे का लाभ होता है। सट्टा करने वाले सभी लाभ की आशा से करते हैं, परन्तु सबको लाभ नहीं हो सकता। इस व्यापार में किसी का दुःख ही दूसरे का सुख है, अतः यह व्यापार उचित नहीं है। दूसरा व्यापार वह है, जिसमें समाज की आवश्यकता पूरी करने के लिये वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, जहाँ वस्तुएँ अधिक होती हैं, वहाँ से उस जगह पहुँचायी जाती हैं 'जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार जो व्यापार समाज की आवश्यकता

पूरी करने के लिये किया जाता है, उसमें किसी का नुकसान नहीं होता। श्रम करने वाले से लेकर भोक्ता तक सभी को सुख मिलता है और व्यापारी को भी उसके परिश्रम के बदले में धन मिल जाता है। यह व्यापार ठीक है।'

यदि मनुष्य दूसरों के दुःख को अपना ले, स्वयं दुःख लेकर दूसरों को सुख देने लग जाय तो उसका फल उसको नित्य आनन्द मिलेगा। विचार करने पर मालूम होगा कि मनुष्य को वस्तुओं की आवश्यकता शरीर के लिये होती है। शरीर का अन्तिम परिणाम क्या है?—मृत्यु। मृत्यु का परिणाम क्या है? जन्म। जन्म में दुःख और मरण में दुःख। बीच में सुख दुःख किसी को प्रिय नहीं है। सभी दुःख से ऊपर उठना चाहते हैं। सभी प्राणियों की यह स्वाभाविक माँग है।

साधक को विचार करना चाहिये कि इस माँग की, इस आवश्यकता की पूर्ति कैसे हो? दुःख का कारण क्या है? जिसको मिटा देने से सदा के लिये दुःख का अभाव हो जाय। विचार करने पर मालूम होगा कि अपने से भिन्न दूसरों से आशा करना ही मनुष्य के दुःख का खास कारण है। जीव का स्वरूप चिन्मय है, अतः सभी जड पदार्थ उससे भिन्न है। उन्हें अपने सुख का कारण समझकर उनकी आशा करना उनको चाहना यही दूसरे की आशा करना है। अतः किसी भी भोग—पदार्थ की चाह रहते हुए दुःख का अन्त कभी नहीं हो सकता। मैं शरीर हूँ, इस देहाभिमान से ही भोग वासना का उदय हुआ है। इसके मिटते ही भोग वासना मिट जाती है। भोगवासना के मिटते ही सब प्रकार के दुःख सदा के लिये मिट जाते हैं, चित्त शुद्ध और स्थिर हो जाता है। उसके होते ही प्रेम का उदय हो जाता है और अनन्त नित्यरस स्वरूप भगवान मिल जाते हैं।

अतः साधक को यह निश्चय करना चाहिये कि मैं चिन्मय होकर यदि जड वस्तुओं की आवश्यकता का अनुभव करूँ तो इससे बड़ी भूल और क्या होगी। अतः जो जड पदार्थ मुझे नहीं चाहते, मेरी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते, मेरे बिना वे रह सकते हैं, तो मैं भी उनके बिना रह सकता हूँ। इसलिये मैं उनकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करूँगा। उनकी इच्छा नहीं

करूँगा। इस प्रकार की दृढ़ भावना करके जड से विमुख होते ही चिन्मय का दर्शन हो जाता है। यह नियम है।

दूसरे की जरूरत मानने का परिणाम ही बन्धन और दुःख है। अतः हैं, संसार नहीं। इस भावना से जब उसकी सब जरूरतें दूसरों का साधक को समझना चाहिये कि उसकी आवश्यकता तो एकमात्र प्रभु आवश्यकता बन जाती हैं, तब सभी उसकी आवश्यकता का अनुभव करने लगते हैं और वह महान् बन जाता है।

इच्छाओं के रहते हुए ईश्वर नहीं मिलता, अतः साधक को संसार की ममता और आशा छोड़कर एकमात्र ईश्वर का हो जाना चाहिये। एकमात्र ईश्वर ही मेरी आवश्यकता है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

संसार की आवश्यकता न रहना ही मुक्ति है। आवश्यकता को छोड़ने में किसी प्रकार की कठिनाई या पराधीनता नहीं है। वैसे ही ईश्वर की प्राप्ति में भी कोई कठिनाई या परिश्रम नहीं है। प्रभु की आवश्यकता का अनुभव करके उसके लिये व्याकुल होते ही वे मिल जाते हैं।

मनुष्य सोचता है कि अमुक स्थान में एकान्त में सुन्दर आश्रम बनाकर उसमें भजन–स्मरण करूँगा। इस प्रकार की आशा गलत है। उसे विचारना चाहिये कि जो काम में वर्तमान में नहीं करता, वह भविष्य में कर सकूँगा–इसका क्या विश्वास है। यह तो केवल आशा–ही–आशा है। किसी के चाहने से अनुकूल परिस्थिति नहीं मिलती। अनुकूल संयोग का नाम ही भोग है। यह कर्म से मिलता है। बिना कर्म नहीं मिलता। अतः किसी भी अनुकूलता की आशा करना तो साधन में विघ्न है; क्योंकि ईश्वर की आवश्यकता के साथ–साथ दूसरी इच्छाओं के रहते ईश्वर नहीं मिलते। जिस चीज का चिन्तन–भजन नहीं करने देता, उसकी प्राप्ति भजन में कैसे सहायक होगी? शुभ कर्मों से वैभव मिल सकता है, भगवान् नहीं मिल सकते।

मनुष्य को उस सुख की आशा कभी नहीं करनी चाहिये, जिसकी प्राप्ति दूसरों के दुःख से होती है। उसकी आवश्यक वस्तु तो एकमात्र ईश्वर ही होना चाहिये।

ईश्वर की सृष्टि में किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। मनुष्य की दरिद्रता–उसके अभाव का कारण एकमात्र लोभ है। प्राप्त वस्तु का सदुपयोग न करना, दुरुपयोग करना तथा अप्राप्त को चाहना और उसका चिन्तन करना–यह लोभ का स्वरूप है। इसके रहते हुए बड़े, से–बड़ा धनवान भी दरिद्र ही है। धन और ऐश्वर्य से अभिमान बढ़ता है। दूसरों से कामना पूर्ति की आशा छोड़ देने से निर्लोभता आती है। लोप मिट जाने के बाद दरिद्रता नहीं रहती, वह अपने–आप मिट जाती है।

जब तक मनुष्य वस्तु–प्राप्ति की आशा और चिन्तन करता रहता है, तब तक वह उसे नहीं मिलती, जब वह प्राप्त वस्तु का उपयोग अपने सुख के लिये करने लग जाता है, तब वह नहीं रहती और उसका मिलन भी बन्द हो जाता है। वस्तु का सदुपयोग करने से अर्थात् लोभ रहित होकर उससे दूसरों की सेवा करते रहने से वस्तु बिना इच्छा के अपने–आप मिलती है–यह ईश्वरका विधान है। अपने साथियों के माथे दोष मँढ़कर स्वयं अपने को निर्दोष बताना कभी उचित नहीं है; क्योंकि पहले अपने मन में दोष रहता है, तब साथियों में आता है।

भगवान् साधक के मन को देखते रहते हैं। मन में जरा–सा अभिमान या अन्तर आते ही वे अपनी लीला का दृश्य परिवर्तन कर देते हैं।

जब तक लोभ रहता है, तब तक निर्धनता रहेगी। एक अवगुणक आने पर दूसरे अपने–आप आ जाते हैं। वस्तु के न रहने पर भी मनुष्य सुख पूर्वक रह सकता है। अतः लोभ रहित होने में वह पराधीन नहीं है।

जीवन में उदारता न होने के कारण वस्तु का अभाव रहता है। अपने विवेक का अनादर नहीं करता, उसे संसार का नेतृत्व मिलता है।

साधक को वह काम करना चाहिये, जिससे दूसरों का हित हो, दूसरे प्रसन्न रहें और उनकी आवश्यकता पूरी हो। वस्तु प्राप्ति का उपाय उदारता

और ईमानदारी है। प्राप्त वस्तुसे स्वयं सुख भोग न करना–यही ईमानदारी है और उसे दूसरों के सुख में लगा देना–यही उदारता है।

दूसरों को दुःख देकर सुख न लेना, यही निर्लोभता की पहचान है। वस्तु के त्याग से और सदुपयोग से शान्ति मिलती है। चित्त शुद्ध होने पर किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता। अतः साधक को चाहिये कि भगवान की आवश्यकता को भोग की इच्छाओं में न बदले; किन्तु भोगों की इच्छाओं को भगवान की आवश्यकता में विलीन कर दे।

(38)

(प्रेमास्पद के मन में मन मिला देना ही प्रेम–प्राप्ति का साधन है; व्यापक प्रेम ही वास्तव में प्रेम है; प्रेम के स्वरूप का वर्णन – भाव की शुद्धि ही शुद्धि है, अतः हरेक क्रिया सर्व–हितकारी भाव से प्रभु की प्रसन्नता के लिये करनी चाहिये)

साधक को चाहिये कि मन में जो दुःख हो उसे गलत रास्ते से मिटाने की कोशिश न करे, उसे सही रास्ते से मिटावे। सही रास्ते से मिटाया हुआ दुःख सदा के लिये मिट जाता है।

साधक को अपना मन अपने पास नहीं रखना चाहिये। जिसके साथ प्रेम करना हो उसके मन में अपना मन मिला देना चाहिये।

जैसे किसान खेत में एक दाना डालता है, तो उसका अनेक गुना अधिक होकर उसको मिलता है। इसी प्रकार यह दुनिया एक खेत है, इसमें जो वस्तु डाली जाती है, अर्थात् दूसरों को सुख पहुँचाने के लिये लगायी जाती है, वह डालने वाले को अनेक गुना अधिक होकर मिलती है।

जिसके द्वारा जो अच्छा या बुरा काम किया जाता है, वह करने वाले के ही काम आता है।

प्रेमी और प्रियतम, इन दोनों के मन की बात तब पूरी होती है, जब दोनों के मन एक हो जायँ अर्थात् एक–दूसरे के मन की बात पूरी करने में

ही अपने मन की बात पूरी समझें; क्योंकि जब दोनों की आवश्यकता एक हो जाती है, तभी दोनों का मन एक होता है। आवश्यकता में भेद रहते हुए मन एक नहीं हो सकता।

वस्तु के लेने और देने में प्राणी स्वाधीन नहीं है। जो वस्तु वह जिसको देना चाहता है, उसको नहीं मिलती और जिसको नहीं देना चाहता, उसको मिल जाती है। वस्तु के मिलने और न मिलने में तो अदृष्ट की प्रधानता है, जिसको जो वस्तु मिलने वाली है, मिलेगी। जो नहीं मिलने वाली है, वह नहीं मिलेगी। वस्तु का लेन–देन प्रेम का या कुछ–चित्तशुद्धि का कारण नहीं है, प्रेम का सम्बन्ध तो भाव से है।

प्रेम वही है, विभु अर्थात् असीम हो, किसी वस्तु, व्यक्ति या बँधा हुआ न हो, जो सबके साथ समान भाव से हो। सीमित प्यार का नाम तो 'स्वार्थ' है। वह उसके साथ होता है, जिससे न–कुछ लेने की आशा होती है। वह स्वार्थ यानी किसी से कुछ लेना या लेने की आशा रखना–यही चित्त की अशुद्धि का प्रधान कारण है।

जिससे कुछ मिलने की आशा होती है, उसके साथ तो पशु–पक्षी भी प्यार करते हैं। इसमें मनुष्य की क्या विशेषता है। जहाँ लेने की इच्छा रहती है, वहाँ प्रेम नहीं होता। वहाँ तो ईर्ष्या बढ़ती रहती है, एक–दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है अर्थात् मकान, सम्पत्ति और भोग–सामग्रियों में एक–दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता करता है–प्रतियोगिता करता है। यही प्रतियोगिता यदि इस बात को लेकर हो कि वह जितना भजन करता है, मैं उससे अधिक करूँगा; वह जितना त्याग करता है, मैं उससे अधिक करूँगा; वह जितनी सेवा करता है, मैं उससे अधिक करूँगा; तब तो मनुष्य को यह आगे बढ़ाने वाली होती है। किन्तु जो प्रतियोगिता किसी वस्तु, मकान और आत्मख्याति को लेकर की जाती है, वह विकास का हेतु नहीं हो सकती, पतन में ही कारण बनती है।

कर्म कभी भी असीम नहीं होता, उसकी सीमा होती है, उसका विधान होता है एवं उसका सम्बन्ध किसी–न–किसी प्रकार की परिस्थिति और

मान्यता से होता है एवं परिस्थिति पहले से निश्चित होती है। इस कारण कर्म असीम नहीं हो सकता। परन्तु प्रेम का सम्बन्ध किसी भी क्रिया, पदार्थ और परिस्थिति से नहीं होता। अतः वह असीम होता है। जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ प्रेम नहीं होता, स्वार्थ के अभाव से ही प्रेम होता है।

स्वार्थ–त्याग ही वास्तव में त्याग है अर्थात् जो वस्तु अपने पास हो, अपने अधिकार में हो उसको छोड़ देना ही त्याग है। यदि कोई न मिलने वाली वस्तु का त्याग कर दे, तो वह त्याग नहीं है।

जब साधक की हरेक चेष्टा प्रभु प्रेम के लिये ही होने लगे तब उसका जीवन रसमय बन जाता है। क्रिया में भेद होना तो अनिवार्य है; क्योंकि क्रिया तो परिस्थिति और विधान के अनुसार होती है। विधान मान्यता के अनुसार होता है; परन्तु कर्म में भेद होने पर भी रस में भेद नहीं होना चाहिये।

प्रेम किसी भी कर्म के अधीन नहीं होता। वह किसी प्रकार की क्रिया में बँधता नहीं कि अमुक प्रकार की क्रिया या व्यवहार का नाम ही प्रेम है। भगवत्प्रेमी जिस प्रेम और श्रद्धा से किसी एक पर पुष्प चढ़ाता है, उसी प्रेम से दूसरे का महान् तिरस्कार भी कर सकता है। इस प्रकार क्रिया में विपरीतता रहने पर भी प्रेम बना रहता है। उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। चित्त शुद्ध होने पर जो असीम प्रेम होता है, उसकी ऐसी ही महिमा है।

प्रेमी तिरस्कार करता है, पर उस तिरस्कार करने में वैर या द्वेषभाव रहता, जैसे सूर्य फल के रस को चूसकर उसे सुखा देता है तथा अग्नि सबको भस्म कर देता है, तो भी वे हिंसक नहीं होते। उनके द्वारा होने वाला काम हिंसा नहीं कहलाता। उसी प्रकार प्रेमी के विषय में समझ लेना चाहिये।

जब तक मनुष्य अपने मन की बात पूरी करना चाहता है, तब तक उसमें छिपा हुआ हिंसा–भाव विद्यमान रहता है। कर्ता का भाव ही हिंसा और अहिंसा में कारण है, क्रिया नहीं। भाव से ही चित्त अशुद्ध होता है और

भाव से ही शुद्ध होता है। अतः साधक को चाहिये कि जो करे, दूसरों के हित की भावना से अपने प्रभु की प्रसन्नता के लिये करे।

साधक को चाहिये कि या तो किसी को अपना न माने या सबको अपना माने; क्योंकि किसी को अपना मानने और किसी को पराया मानने से राग–द्वेष होता है। प्रेम नहीं होता। राग–द्वेष के रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्नता हो, और दुःखियों के दुःख से करुणा हो, उनका दुःख सहा न जा सके, तो इससे मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है।

अतः साधक को चाहिये कि अपना और पराया मानना ही तो सेवा करने के लिये, उनके मन की बात पूरी करने के लिये सबको अपना माने और अपनी इच्छा पूर्ति के लिये किसी को अपना नहीं माने, सबको पराया समझे।

यदि मनुष्य–शरीर मिलने पर भी चित्त हुआ तो प्राणी को मिला ही क्या? चित्त का शुद्ध होना ही तो मानव–जीवन का पुरुषार्थ है। प्यार का भेद रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता। प्रीति का भेद मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः साधक को प्रेम का भेद मिटा देना चाहिये। अपने प्यार को असीम अर्थात् व्यापक बना देना चाहिये। प्रभु सर्वत्र व्यापक हैं। अतः जो व्यापक प्रीति है, वही प्रभु से है। सीमित शुद्ध नहीं प्यार तो मोह है, जो चित्त को अशुद्ध करने वाला है।

जिनके मन में वस्तु का महत्त्व होता है, वे चीज के बिगड़ जाने का नहीं समझते कि वस्तु कुछ खराब नहीं होती, उसकी शकल बदल जाती है। एक घटना याद आ गयी। एक लड़का बड़ा चंचल था। उसको खाने के लिये खील–मखाना दिया गया। उसने उसमें से कुछ इधर–उधर बिखेर दिया। जब उससे कहा गया कि इनको खराब क्यों रहे हो, उसने **उत्तर** दिया कि 'वस्तु जितनी जल्दी खा लेने से खराब होती है, बिखेर देने से नहीं होती। बिखेरी हुई वस्तु को बिगड़ने में हर लगेगी।' हरेक वस्तु खायी

जाने के बाद भी खाद बनती है एवं इस प्रकार भी गल–सड़कर खाद ही बनती है। अतः वस्तु का बनना–बिगड़ना उसकी शकल बदलना है, अन्य कुछ नहीं। मनुष्य का यह शरीर जो बड़ा सुन्दर और उपयोगी दिखायी देता है, इसकी भी एक दिन खाद बन जायगी।

इसी प्रकार जो मनुष्य वर्तमान के सुख में रमण करते हैं, उसके परिणाम को नहीं देखते, यह उनकी असावधानी या गलती है। इसका सुधार करना चाहिये; क्योंकि जो वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितियों में सीमित प्यार किया जाता है, उससे व्यक्ति भाव, आसक्ति, वासना और बन्धन दृढ़ होते हैं तथा वह सीमित प्यार करने वाला भोगी और हिंसक बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी दोषों का मूल सीमित प्यार है। इसी प्रकार असीम प्रेम होने पर व्यक्ति भाव मिट जाता है अर्थात देहाभिमान गल जाता है, राग मिटकर वैराग्य हो जाता है, वासना का नाश होकर निर्वासन आ जाती है। सब बन्धन टूटकर मुक्ति मिल जाती है तथा अहिंसा, समता, मुदिता आदि सभी गुण अपने–आप आ जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सभी गुणों का मूल असीम प्यार है।

जहाँ प्रेम प्रकट हो जाता है, वहाँ इन्द्रियों के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण–इन सबकी एकता हो जाती है। इन सबका एक हो जाना अर्थात् सबका बुद्धि में विलीन हो जाना ही योग है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम का अर्थ ही अद्वैत अर्थात् एकता है और न्याय का अर्थ द्वैत है।

वस्तु तो जिसका जैसा अदृष्ट होगा, उसके अनुसार ही मिलेगी, किसी को वस्तु देना देने वाले के हाथ की बात नहीं है। परंतु प्यार के सभी रुकावट हकदार हैं, प्यार सबको दिया जा सकता है। इसमें अदृष्ट की नहीं चल सकती। अतः सीमित प्यार का अन्त करना ही मनुष्य का पुरुषार्थ है।

साधक को समझना चाहिये कि शरीर और संसार के न रहने पर भी मैं रहूँगा। अतः क्रिया और मान्यता में भेद होने पर भी मेरा किसी से प्यार का भेद न हो, सबके साथ अगाध और असीम प्रेम हो।

ईश्वर को मानना एक चीज है और उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना दूसरी चीज है। केवल ईश्वर को मान ले, परन्तु उसके साथ अपनत्व और प्रेम न हो तो जीवन नहीं बदलता।

किसी क्रिया, वस्तु और परिस्थिति के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना ही प्रेम में भेद उत्पन्न करने का कारण है, अतः प्रेमी साधक को चाहिये कि क्रिया आदि के साथ अपना सम्बन्ध न रखे। भूल से बनाये हुए सम्बन्ध को छोड़कर समस्त क्रियाओं से अतीत हो जाय एवं जैसा स्वाँग मिला है उसके विधान के अनुरूप क्रिया करते हुए प्रेम में भेद न करे। ऐसा करने से साधक का चित्त बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है।

(39)
(किसी का भी बुरा चाहते रहने से प्रेम समभाव से और असीम नहीं होता; 'बुरा चाहना क्या है' इसका स्पष्टीकरण तथा समभाव से असीम प्रेम–प्राप्ति का साधन)

पहले यह बात कही गयी थी कि सीमित प्यार चित्त की अशुद्धि का कारण है। अब विचार यह करना है कि मनुष्य के जीवन में सीमित प्यार होता क्यों है? विचार करने पर यह मालूम होगा कि किसी–न–किसी प्रकार से दूसरे का बुरा चाहते रहने के कारण प्यार असीम नहीं हो पाता। एकदेशीय–सीमित रहता है।

साधारणतया मनुष्य सोच सकता है कि मैं तो किसी का बुरा नहीं चाहता और किसी के साथ बुराई करता भी नहीं तथापि मेरा प्रेम तो मोभित ही है। परंतु ऐसी बात नहीं है। जरा गम्भीरता से विचार करना चाहिये। जिनके साथ हमारा मतभेद है, साधन–पद्धति में भेद है, क्या उनके द्वारा किया जाने वाला प्रचार हमें बुरा नहीं मालूम होता? क्या उनको उन्नति, उनका वैभव, उनका सम्मान हमको बुरा नहीं लगता? या उससे हमारे मन में ईर्ष्या का भाव नहीं आता? इसी प्रकार उनकी हार में, उनकी अवनति में

और उनके अनादर में हम प्रसन्न नहीं होते? यदि होते हैं तो समझना चाहिये कि यही उनका बुरा चाहना और चित्त की अशुद्धि है।

मान्यता, साधन प्रणाली और आचरणों में भेद न हो, यह असम्भव है। श्री लक्ष्मण जी भगवान् श्री राम के अनन्य भक्त थे। भगवान के विरोधी चाहे शंकर ही क्यों न हों, उनसे भी वे लड़ने को तैयार रहते थे। तो भी उनकी मान्यता में भेद था। भगवान् श्रीराम समुद्र से रास्ता माँगते हैं; लक्ष्मण जी को यह पसन्द नहीं है, परन्तु उनके प्रेममें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं है।

रुचि भेद से और प्रकृति–भेद से आचार–व्यवहार और मान्यता में भेद होना स्वाभाविक है, इसका चित्त की शुद्धि और अशुद्धि पर कोई असर नहीं पड़ताय किंतु जब इनको लेकर प्यार में भेद हो जाता है अर्थात् जो हमारे मत का अनुयायी है, वह प्रिय मालूम होता है और जो उसे नहीं मानकर दूसरे की मान्यता का अनुसरण करता है, वह बुरा मालूम देता है; जो हमारे घर का, पड़ोस का, गाँव का, जिले का या देश का है, वह क्रम से न्यूनाधिक प्रिय लगता है और जो दूसरा है, वह अप्रिय लगता है, जो हमारी बात मानता है, हमारा सम्मान करता है, वह प्रिय लगता है; जो हमारी बात नहीं मानता, उससे विपरीत करता है, वह अप्रिय मालूम होता है। इसी प्रकार सम्प्रदाय के नाते, धर्म के नाते जो अपने विपक्षी की उन्नति से ईर्ष्या और अप्रियता का भाव होना एवं अवनति में प्रसन्नता का भाव होना है, यही उनका बुरा चाहना है, यह मनुष्य के चित्त की शुद्धि नहीं होने देता।

साधक को चाहिये कि सबके भले की कामना करे। ऐसा न कर सके तो किसी का भी बुरा तो चाहे ही नहीं। मत में, स्वभाव में, व्यक्तित्व में चाहे कितना भी भेद क्यों न हो, उसे सहन करे। उस भेद का कोई प्रभाव प्रेम पर न पड़ने दे। उसे मानना चाहिये कि कर्म की और रुचि की एकता नहीं हो सकती, परंतु प्रीति की एकता मैं कर सकता हूँ। यह भावना चित्त शुद्धि का सुन्दर उपाय है।

मनुष्य अपना दुःख कम करने के लिये दूसरों के दोष देखता रहता है। वह समझता है कि अमुक मान्यता के कारण समाज और देश की हानि

होती है। अमुक धर्म या मत के मानने वालों में कोई भला या ईमानदार आदमी नहीं है। इस प्रकार की भावना चित्त को शुद्ध नहीं होने देती। इससे अपनी मान्यता का अभिमान और दूसरों की मान्यता में घृणा उत्पन्न होती है। जिससे साधक की प्रीति असीम और सम नहीं हो पाती।

साधक को समझना चाहिये कि सभी मेरे प्रियतम प्रभु के हैं और सब में मेरे प्रभु विराजमान हैं; क्योंकि यह सब उन्हीं से उत्पन्न हुआ है; उन्हीं में स्थित है और उन्हीं में विलीन हो जायगा, उन्हीं की सत्ता से इसकी सत्ता है। अतः जो जैसा भी है, है तो उन्हीं का। इस नाते सब अपने हैं। इस भाव को साधक कभी न भूले एवं उसे चाहिये कि भगवान के नाते सबके साथ समान भाव से प्रेम करे। दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न ईर्ष्या या द्वेष न करे। दूसरों को दुःखी देखकर स्वयं दुःखी हो जाय।

किसी के दुःख में आबद्ध होना और उसके दुःख से दुःखी होना एक नहीं है। दूसरे के दुःख में आबद्ध होना तो मोह है और दुःखी होना करुणा है।

जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसका दूसरे पर बहुत प्रभाव पड़ता है। करुणा शील सन्त जब किसी को दुःखी देखता है, तब उस दुःखी का दुःख तो उसके पास आ जाता है और उस सन्त की शान्ति और विवेक उस दुःखी में चले जाते हैं, जिससे उसका दुःख मिट जाता है और वह प्रसन्न हो जाता है। उस दुःखी मनुष्य का दुःख सन्त में आकर उसी प्रकार भस्म हो जाता है, जैसे अग्नि में पड़ा हुआ काठ।

तारा जब बालि के मरने पर दुःखी होकर रोने लगी, विलाप करने लगीय तब उसके दुःख को देखकर करुणा सिन्धु भगवान् श्री राम का हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने तारा को सान्त्वना दी, तत्त्व समझाया, तत्काल ही तारा का दुःख आनन्द में बदल गया। भगवान का ज्ञान उसमें आ गया। यदि कहो कि श्रीराम तो साक्षात् ईश्वर थे, तो समझना चाहिये कि जब भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं, उस समय अपने में मनुष्य भाव का आरोप करके हम लोगों को सिखाने के लिये वैसे ही आचरण करते हैं,

जिनका अनुकरण मनुष्य कर सके। यदि पराये दुःख से हृदय दुःखी न हो, उसमें करुणाभाव न उछले तो समझना चाहिये कि मेरा हृदय अपने दुःख से खाली नहीं है।

भगवान् पतित पावन हैं। अतः पतित–से–पतित प्राणी भी उनको अपना मान कर उनका हो सकता है। जो साधक भगवान को अपना मानकर सर्वस्व उनके समर्पण कर देता है; वह उनकी वस्तु के साथ, उनकी प्रजा के साथ द्वेष या घृणा कैसे कर सकता है? इस विषय में एक सती स्त्री की घटना याद आ गयी।

एक सती स्त्री थी। उसका पति तहसीलदार था। वह एक वेश्या से प्यार करता था। वह वेश्या एक दिन उनके घर पर आयी और उस सती स्त्री को एक जेवर पहने देखकर जेवर पर उसका मन चलायमान हो गया। उसने तहसीलदार से वह जेवर माँगा। तहसीलदार ने अपनी स्त्री से कहा, तो उस स्त्रीने बड़े हर्ष के साथ अपना जेवर उस वेश्या को दे दिया। इस बातका जब उसके भानजे को (भानजा था या देवर था या जेठ का लड़का था, ठीक याद नहीं) पता लगा और उसने कहा कि 'आपने यह क्या किया' तब उसने **उत्तर** दिया कि 'तहसीलदार जी को वह बहुत प्यारी है, वे उससे बहुत प्यार करते हैं, उस जेवर को मेरे शरीर पर देखकर उनको जो प्रसन्नता होती थी, उसकी अपेक्षा उसके शरीर पर देखकर अधिक प्रसन्नता होगी। अतः जेवर देकर मैंने उन्हीं को प्रसन्न किया है। मैं उस जेवर का क्या करती?' इसका यह फल हुआ कि उधर तहसीलदार का शरीर लोग जलाने के लिये ले गये और इधर उस स्त्री का शरीर जल गया।

जो भक्त सभी वस्तुओं को भगवान की समझते हैं और सब में भगवान को देखते हैं उनका सबमें प्रेम हो जाता है। उनका किसी में राग–द्वेष नहीं होता।

एक कन्हैया नामके भक्त थे। वे अपने को भगवान् कन्हैया का गुमास्ता मानते थे। एक दिन उनके घर पर डाकू आये और उनसे पूछा कि 'कन्हैया कहाँ है?' उसने कहा–'क्या काम है? आपको क्या चाहिये? मैं

कन्हया का गुमास्ता हूँ।' डाकुओं ने कहा–'हम तो डाकू हैं, धन चाहिये।' कन्हैया के भक्त ने तिजोरी की चाभी उनको दे दी और कहा–'जितना चाहिये ले जाओ। आपका ही तो है।' डाकू उससे चाभी लेकर साठ हजार रुपये निकालकर ले गये। प्रातःकाल होने पर पुलिस ने पूछा कि क्या रात में तुम्हारे घर पर डाका पड़ा था?' तो उसने कहा, 'डाका नहीं पड़ा। कन्हैया आया था, उसको जितने रुपयों की जरूरत थी, ले गया।'

इससे साधक को यह भाव लेना चाहिये कि जो कुछ है, सब मेरे प्रियतम प्रभु का है। इसीलिये सब मेरे हैं, कोई पराया नहीं है। सब का लक्ष्य एक हो सकता है, परन्तु मान्यता और साधना एक नहीं होती; क्योंकि रुचि और योग्यता में भेद होता है। अतः साधक को किसी से यह नहीं कहना चाहिये कि तुम गलती पर हो, तुम्हारे सोने में खोट मिला हुआ है। उसे सोना कसने की कसौटी दे देनी चाहिये। विपक्षी की विजय पर हर्ष मानना चाहिये और पराजय पर दुःख मानना चाहिये। जो द्वेष रखता हो, उसके साथ भलाई करनी चाहिये।

एक कठजीभा नाम के स्वामी थे। एक पण्डित के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में पण्डित हार गया और उस दुःख से दुःखी होकर गंगा में डूब गया। उस दिनसे स्वामी जी ने शास्त्रार्थ करना छोड़ दिया। उनको इतना दुःख हुआ कि अपनी जीभ को उन्होंने काठ में बन्द कर लिया। उसी से उनका नाम (काष्ठजिह्वा) कठजीभा पड़ गया।

किसी का मरना, दुःखी या अपमानित होना और हारना यदि प्रिय मालूम होता हो तो समझना चाहिये कि चित्त अशुद्ध है। अपने सुख और दुःख में यदि समता न रह सके तो समझना चाहिये कि चित्त अशुद्ध है। विवाद में किसी पर विजय पाना हो तो अपना पक्ष स्थापित न करे, दूसरे पक्ष पर बार–बार सन्देह करता रहे। पर यह साधक के लिये बढ़िया बात नहीं है।

जिसके चित्त में राग नहीं रहता, उसका जीवन त्याग से जाता है। जिसके चित्त में द्वेष नहीं रहता, उसका हृदय प्रेम से भर जाता है। जहाँ

त्याग होता है, वहाँ मुक्ति आ जाती है और जहाँ प्रेम होता है, उसके जीवन में भक्ति आ जाती है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि से और घर से सम्बन्ध तोड़ देने पर प्रभु से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

निर्बलता का समूह ही संगठन है, संगठन तोड़ने से सच्ची एकता होती है। संगठन से भलाई और बुराई दोनों ही होती हैं। अतः साधक को चाहिये कि सबके साथ प्यार की एकता करे, संगठन न करे अर्थात् दलबन्दी न करे।

मतभेद होना स्वाभाविक है। पर इसको लेकर ईश्वर वादी किसी से भी वैर नहीं कर सकता; क्योंकि सब प्रभु के हैं। तब वह किस से वैर करे, कैसे किसीका बिगाड़ करे और किसी को बुरा समझे।

प्रेम होने पर ही प्रेम की दृष्टि से सबमें प्रियतम का दर्शन होता है। अतः साधक को चाहिये कि इन्द्रियों की दृष्टि से अर्थात् राग–द्वेष की दृष्टि से ऊपर उठकर सबको प्रीति की दृष्टि से देखे।

जिस भावना के मूल में दार्शनिकता नहीं होती, वह ठहर नहीं सकती। अतः साधक को समझना चाहिये कि जो कुछ है, सब उनका है, वे मेरे हैं, वे इस सम्पूर्ण में और इससे परे भी हैं। ऐसा जान लेने पर चित्त सर्वथा शुद्ध होकर असीम प्रेमसे भर जाता है।

(40)

(शरीर–जाति–वर्ण–आश्रम–धन–सम्पत्ति आदि के साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है उससे ही अच्छे–बुरे कर्म होते हैं; उसके त्याग के उपाय का वर्णन; निष्काम भाव का महत्त्व)

चित्त शुद्ध हो जाने पर वही होता है, जो होना चाहिये। वह नहीं होता, जो नहीं होना चाहिये। अतः प्रयत्न का अन्त हो जाता है। जब यह

मालूम हो कि जो होना चाहिये वह नहीं होता और जो नहीं होना चाहिये वह होता है, तब विचार करना चाहिये कि ऐसा क्यों होता है?

विचार करने पर मालूम होगा कि माने हुए सम्बन्ध में सद्भाव कर लेने के कारण ऐसा होता है। मैं शरीर हूँ ऐसा मान लेने के कारण अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। उनकी पूर्ति के लिये मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है। जो करने के जाल से मुक्त हो, ऐसा मनुष्य देखने में नहीं आता।

कर्म करने के लिये सामर्थ्य और उसके विधान की आवश्यकता होती है। जो जैसा कर्म करता है, उसको विधान के अनुसार फल मिलता है। इसके लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती।

कर्म करने की शक्ति का केन्द्र प्राण है। उसी से समस्त शरीर और इन्द्रियों में करने की सामर्थ्य आती है और मन में करने का संकल्प उत्पन्न होता है। संकल्प और शक्ति–इन दोनों के मेल से कर्म होता है।

जो साधक मन और प्राण से अलग हो जाता है, वह करने से और इसके फलरूप सुख–दुःख से मुक्त हो जाता है।

प्राणों का क्षय प्रतिक्षण होता है, परन्तु मन न तो बूढ़ा होता और न उसका नाश ही होता। मन के रहते हुए यानी वासना के रहते प्राणों का अन्त हो जायगा तो उसकी पूर्ति के लिये पुनः प्राणों की जरूरत पड़ेगी। अतः नया शरीर धारण करना पड़ेगा। इस प्रकार जन्म–मृत्यु के चक्र से प्राणी कभी नहीं छूट सकेगा। परन्तु यदि प्राणों के रहते हुए मन का नाश कर दिया जाय तो सारी व्यवस्था बैठ जाती है। मन के नाश का मतलब है–'संकल्पों का अभाव।'

संकल्पों की उत्पत्ति माने हुए सम्बन्ध में सद्भाव होने पर होती है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अमुक हूँ, मैं गृहस्थ हूँ–इस प्रकार शरीर को मैं मान कर जो जाति, नाम, वर्ण, आश्रम आदि से सम्बन्ध जोड़ लेना है, इसी का नाम माना हुआ सम्बन्ध है, क्योंकि यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। जन्मसे पहले और

मरने के बाद इस प्रकार के सभी सम्बन्ध नहीं रहते। वर्तमान में भी माने हुए सम्बन्ध का परिवर्तन होता रहता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि माने हुए सम्बन्ध को तोड़ने से मन का नाश होगा। माना हुआ सम्बन्ध विचार पूर्वक वास्तविक सम्बन्ध के बोध से या जिससे मनुष्य का नित्य–सम्बन्ध है उससे विश्वास पूर्वक सम्बन्ध मान लेने से टूटता है। अतः साधक को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार देखना चाहिये कि वह विचार पूर्वक मन का नाश करना चाहता है या विश्वास पूर्वक। यदि विचार पूर्वक मन का नाश करना हो, तब तो विवेक के द्वारा शरीर और संसार के स्वरूप का विवेचन करना चाहिये। विवेचन करने पर इसकी अनित्यता, असारता और जडता का अनुभव होते ही माना हुआ सम्बन्ध अपने–आप मिट जायगा और मन का अर्थात् संकल्पों का अभाव हो जायगा।

यदि विश्वास पूर्वक मन का नाश करना है, तो जिस प्रभु के साथ प्राणी का नित्य सम्बन्ध है, जो कभी इसका सम्बन्ध नहीं छोड़ता, उससे विश्वास पूर्वक सम्बन्ध का अनुभव करना होगा। जिससे सम्बन्ध होता है, उससे प्यार अवश्य होता है।

साधक को चाहिये कि ईश्वर है और वह मेरा है, यह दृढ़ विश्वास करे। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध नित्य है, जो उसको अपना स्वामी मानता है, उसका वह स्वामी है। जो पुत्र मानता है, उसका पुत्र है। जो सखा मानता है, उसका सखा है। जो प्रियतम मानता है, उसका वह प्रियतम है। ईश्वर के साथ जीव का हरेक सम्बन्ध है, इसलिये किसी प्रकार का सम्बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

यदि कोई समझे कि 'भगवान को हम मित्र कैसे माने? कहाँ तो हम एक तुच्छ प्राणी और कहाँ समस्त ब्रह्माण्ड के कर्ता–हर्ता ईश्वर? उनसे हमारी मित्रता कैसे हो सकती है? हम तो एक बड़े अधिकारी को या राजा को भी मित्र नहीं कह सकते।' तो ऐसी बात नहीं है। भगवान साधारण अधिकारी और राजाओं की भाँति ऐश्वर्य के अभिमानी नहीं हैं। उनमें

बड़े–छोटे का भाव नहीं है। वे तो सर्व समर्थ और सर्वथा परिपूर्ण हैं। उनमें ऐश्वर्य के साथ–साथ माधुर्य भी पूर्ण है। जो उनको अपना मानता है, वह चाहे कैसा ही क्यों न हो, उसे अपना लेना उनका स्वभाव है। भगवान की इस महिमा पर दृढ़ विश्वास करके जो भाव साधक को प्रिय हो, उसी भाव को लेकर उसे भगवान का हो जाना चाहिये।

मनुष्य भगवान को अपना नहीं मानता, उनसे प्रेम नहीं करता, भी भगवान् तो उससे प्रेम करते हैं और उसे अपना मानते हैं, परन्तु उस सम्बन्ध और प्रेम का जीव को तब तक अनुभव नहीं होता, वह शरीर और संसार को अपना मानता रहता है। साधक को भगवान से सम्बन्ध जोड़ना नहीं है, उसका जो नित्य सम्बन्ध है, उसको स्वीकार कर लेना है।

यदि कोई कहे कि 'भगवान् हमारी भाँति शरीर धारी थोड़े ही हैं, जो हम उनको पुत्र, मित्र या पति मान लें, क्या वेद–शास्त्र में ऐसा प्रमाण है?' तो उनको भगवान की सर्वशक्तिमत्ता को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिये कि जो ईश्वर इस विचित्र जगत की रचना, पालन और संहार कर सकता है, उसके लिये कौन–सी बात असम्भव है। वेद में भी तो भगवान को जीव का सहज सखा बतलाया है। मित्र जब मित्र की सेवा करता है तब दास भाव, जब उसे भोजन कराता है तब वात्सल्य भाव, जब सलाह देता है तब मित्र भाव और जब संकोच छोड़कर परस्पर प्रेम करता है, तब माधुर्य भाव रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणी अपने नित्य–सम्बन्धों के साथ चाहे जिस भाव से सम्बन्ध मान सकता है।

संसार से अलग होना निश्चित है। इससे अलग होकर चाहे तो हम अकेले हो जायँ, चाहे किसी से सम्बन्ध जोड़ लें। परन्तु अकेले में दुःखों का अभाव और नित्य जीवन प्राप्त होने पर भी अखण्ड और अनन्त रस की अनुभूति नहीं होगी, उस रसकी अनुभूति के लिये, उसे भी अपने–आपको उसके समर्पण करना पड़ेगा, जो नित्य–शुद्ध–बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्दघन है।

मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये भिन्न–भिन्न व्यक्तियों से, वस्तुओं से और परिस्थितियों से सम्बन्ध जोड़कर उनको अपना मानकर प्यार

करता है। वे सब मिलकर भी इसकी इच्छाओं को पूरी नहीं कर सकते। जिस अंश में उनके द्वारा इच्छाएं पूरी होती दीखती हैं, वे भी रहती नहीं तो भी वह इन सबसे निराश नहीं होता, इन्हीं से सुख की आशा करता रहता है, यही प्रमाद है। इसी से चित्त अशुद्ध हुआ है।

वास्तव में तो यह संसार प्राणी को ईश्वर से प्रेम करना और उनसे सम्बन्ध जोड़ना सिखाने वाला कॉलेज है। इससे यह शिक्षा लेकर कि प्राणी जिसको अपना मानता है, उसी से उसका प्यार होता है। साधक को चाहिये कि संसार से सर्वथा निराश होकर अपने नित्य–सम्बन्धी को अपना मानकर एक मात्र उसी से प्रेम करे।

शरीर और संसार से सम्बन्ध विच्छेद करने के लिये तीन उपाय हैं–

1. शरीर और संसार क्षणभंगुर हैं, अतः अनित्य हैं, यह जानकर उनसे असंग हो जाना।

2. शरीर और संसार के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने कर्तव्यपालन द्वारा उनकी सेवा करके ऋण–मुक्त हो जाना एवं उन पर अपना कोई अधिकार न मानना और नया ऋण न लेना अर्थात् उनसे कुछ भी न चाहना।

3. शरीर और संसार से मेरा न तो जातीय सम्बन्ध है, न स्वरूप से ही सम्बन्ध है। इस रहस्य को समझकर, जिससे अपनी जातीय और स्वरूप की एकता है, जो अपना नित्य सम्बन्धी है, उसके भूले हुए सम्बन्ध को स्मरण कर लेना।

उपर्युक्त उपायों के द्वारा शरीर और संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर देना चाहिये। जब संसार स्वयं हमसे सम्बन्ध विच्छेद कर देगा और कर रहा है, तब फिर हम उससे सम्बन्ध की आशा क्यों करें?

मनुष्य की समस्त आशाएँ संसार में किसी एक से पूरी नहीं हो सकतीं। अनेक व्यक्ति, वस्तु और परिस्थितियों से जो कुछ आशाओं की पूर्ति होती है, वह भी स्थायी नहीं होती एवं उस सुख को लेने की आशा से मनुष्य की उनमें आशक्ति हो जाती है। परंतु भगवान् ऐसे हैं कि वे अकेले

ही हमारी समस्त इच्छाओं को मिटाकर आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते हैं एवं इस संसार से विमुख होते ही मनुष्य उनके सम्मुख हो जाता है अर्थात् प्रभु का उसे साक्षात्कार हो जाता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जन्मना, जीवित रहना, अभाव का अनुभव करते हुए सदैव दुःख भोगना, बीमार होना और मर जाना, फिर इसी चक्र में घूमते रहना, यही संसार का स्वरूप है। अतः शरीर और संसारसे विमुख होकर उस नित्य–सम्बन्धी परम सुहृद् प्रभु का हो जाना, उनकी शरण लेकर उनके समर्पित हो जाना, यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

जब मनुष्य यह जान लेता है कि मेरा सम्बन्ध उस परमेश्वर से है, जो सबसे बड़ा, सबसे श्रेष्ठ और सबका स्वामी है, तब वह सर्वथा निर्भय और अभिमान रहित हो जाता है। उसमें इतना गौरव आ जाता है कि किसी प्रकार की दीनता नहीं रहती। वह अपने प्रभु की भाँति सबका सुहृद्, प्रेमी और समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न बन जाता है। माना हुआ सम्बन्ध और उसकी स्मृति ही ज्ञान में बाधक है। पुरानी बातों को दुहराना अर्थात् याद करना ही स्मृति है। भगवान का सम्बन्ध तो नित्य है, माना हुआ नहीं है और उनका स्मरण तो प्रेमी का स्वभाव है। अतः वह तो साधक है, वह बाधक नहीं है।

साधक को चाहिये कि किसी बात को फालतू न समझे, किंतु समझे कि भीतर भरा हुआ कचरा निकल रहा है।

साधक को या तो चिन्तन रहित होकर अचिन्त्य रहना चाहिये या एक इष्ट का चिन्तन करते–करते तन्मय हो जाना चाहिये।

कामना लेकर जो ईश्वर का भजन–चिन्तन किया जाता है, वह कामना की पूर्ति होने पर या न होने पर ईश्वर से विमुखता उत्पन्न करता है। जैसे बच्चा माँ से पैसा माँगता है, जब तक माँ पैसा नहीं देती तब तक तो माँ की ओर देखता रहता है। पैसा मिलते ही माँ से विमुख होकर भाग जाता है। यही हालत सकाम साधक की होती है।

इसी प्रकार जो भक्ति भगवान के गुण, प्रभाव और ऐश्वर्य को लेकर की जाती है, वह वास्तविक प्रेम नहीं है। वह साधन–भक्ति है। प्रेम तो वह है जो ईश्वर के साथ सम्बन्ध से होता है, जो उनका अपना मानने से होता है। वह चाहे जैसे हों, मुझसे प्रेम करें या न करें, दयालु हों चाहे निष्ठुर हों, परंतु मेरे हैं–इस भाव से ही सच्चा प्रेम होता है। जैसे विवाह के पहले सगाई करते समय देखा जाता है कि लड़का कैसा है, परंतु जब सम्बन्ध हो जाता है, तब तो वह अपना हो जाता है; वह चाहे जैसा हो, सती स्त्री का तो वही सर्वस्व है। उसने तो उस पर अपने–आप को निछावर कर दिया है। उसकी नजर गुण–दोषों की ओर नहीं जाती।

एक लड़की ने अपनी बहिन से पूछा–'जीजी, जीजाजी कैसे हैं?' उसने **उत्तर** दिया–'हट पगली, जो चीज अपनी होती है, क्या उसके लिये यह देखा जाता है कि वह कैसी है? जैसी भी है, वह तो अपनी है! उसको देखना क्या?'

(41)

(सबसे सम्बन्ध होने का कारण; उसको तोड़ने का और भगवान से सम्बन्ध जोड़ने का साधन; अधिकार–लालसा का त्याग – साधक को अपना साधन निर्माण करके उसमें तत्परता से लग जाना चाहिये; अपने मनकी बात पूरी करने में शक्ति नहीं लगानी चाहिये)

पहले यह बात कही गयी थी कि संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ने से और अपने नित्य सम्बन्धी प्रभु के सम्बन्ध को भूल जाने से चित्त अशुद्ध हुआ है।

अब विचार यह करना है कि प्राणी का सम्बन्ध किसी के साथ क्यों है और क्यों टूटता है? विचार करने पर मालूम होगा कि खास तौर पर तीन कारण से सम्बन्ध जुड़ता है–

1. रुचि से अर्थात् जो मन को प्रिय लगता है, उससे।
2. अभाव–पूर्ति की आशा से।

3. सन्देह रहित होने से।

जिसमें मनुष्य की रुचि नहीं रहती, जिससे अभाव की पूर्ति की आशा नहीं रहती और जिसमें सन्देह हो जाता है, उससे सम्बन्ध टूट जाता है। यह नियम है।

साधक को चाहिये कि अपने मन को समझाकर उसमें ऐसी रुचि उत्पन्न करे कि जो वास्तव में हितकर हो, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह न हो।

दूसरों को समझाने के लिये तो सभी सन्देह रहित होते हैं, परन्तु उससे काम नहीं होता। जरूरत तो अपना सन्देह दूर करने की है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही रुचि को लेकर होती हैं। आंशिक रुचि को लेकर मनुष्य प्रवृत्त होता है फिर उससे अभाव की पूर्ति न देखकर या उसमें किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो जाने पर उससे निवृत्त हो जाता है। जब प्रवृत्ति नहीं होती, तब निवृत्ति होती है—यह नियम है।

मन की आवाज का नाम रुचि है। जिस रुचि के साथ विवेक का प्रकाश नहीं होता, वह मनुष्य की भारी दुर्दशा करती है, अतः साधक को चाहिये कि मन की रुचि को विवेक के प्रकाश में देखे और उसे निर्दोष बनावे।

मनुष्य के मन की बात पूरी होने पर उसमें मनुष्य की आसक्ति हो जाती है और उसे वह जीवन सुखी प्रतीत होता है, परन्तु उस रुचिकर परिस्थिति से युक्त सुखी जीवन में भजन—साधन नहीं होता, प्राणी उसी में फँस जाता है।

इसी प्रकार अरुचिकर परिस्थिति में भी भजन—साधन नहीं होता। उस समय प्राणी रुचिकर परिस्थिति की आशा करके उसके चिन्तन में लग जाता है।

मन की आसक्ति का नाम रुचि है। इसकी उत्पत्ति अभ्यास से होती है, विवेक से इसका परिवर्तन होता है।

अतः साधक को चाहिये कि अपने अभाव को ठीक–ठीक समझे और उसकी पूर्ति का जो असली उपाय है, उसकी खोज करे। विचार करने पर मालूम होगा कि जो अनुकूलता प्राप्त है, वह अवश्य चली जायगी और प्रतिकूलता आ जायगी। यह मालूम होते ही संयोग काल में ही वियोग का दुःख दीखने लगेगा और यह अनुभव होगा कि संसार की कोई भी परिस्थिति अभाव की पूर्ति नहीं कर सकती। तब संसार के सम्बन्ध से रुचि हटेगी।

शरीर और संसार से सम्बन्ध मान लेने पर अधिकार की जागृति होती है। अधिकार की लालसा पूरी न होने पर द्वेष और पूरी होने पर राग उत्पन्न होता है। यह राग–द्वेष ही चित्त की अशुद्धिके मूल कारण हैं।

अतः साधक को चाहिये कि अपना कोई अधिकार न माने। अधिकार छोड़कर चाहे जहाँ रहे, उसे क्षोभ नहीं होता। वह दूसरों को प्यारा लगता है। अधिकार रखने वाला किसी को प्यारा नहीं लगता।

जो मनुष्य सदैव दूसरे के कर्तव्य पर दृष्टि रखता है, उससे भजन नहीं होता; क्योंकि दूसरा अपना कर्तव्य–पालन करे या न करे, यह साधक के हाथ की बात नहीं है। अतः साधक को चाहिये कि दूसरों से किसी प्रकार की आशा न करे और दूसरों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करते हुए भगवान के नाते उनको हित पूर्वक सुख देता रहे।

जो मनुष्य यह सोचता है कि अमुक काम पूरा हो जाने पर या अमुक प्रकार की परिस्थिति प्राप्त होने पर भजन करूँगा, वह भजन नहीं कर सकता, क्योंकि जिस परिस्थिति की आशा और चिन्तन उसे भजन नहीं करने देते, वह प्राप्त होने पर कैसे भजन करने देगी। भजन साधन वही कर सकता है, जो यह निश्चय कर ले कि मुझे तो इसी परिस्थिति में भजन करना है जो प्राप्त है।

साधक को चाहिये कि प्रतिकूलता में भयभीत न हो और अनुकूलता की आशा न करे, एवं जो परिस्थिति प्राप्त है उसी का सदुपयोग करते हुए अपने लक्ष्य की पूर्ति लग जाय। साधक को समझना चाहिये कि प्रतिकूलता

तो संसार में वैराग्य उत्पन्न करके लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक है और अनुकूलता रात की भाँति विश्राम प्रदान करती है। प्रतिकूलता और अनुकूलता दिन और रात की भाँति आती–जाती रहेंगी। ये रुक नहीं सकतीं। अतः मुझे इनमें द्वेष या आसक्ति करके फँसना नहीं है। इनका सदुपयोग करके इनसे अतीत का जीवन प्राप्त करना है।

जो काम अपनी प्रसन्नता के लिये किया जाता है, उसका नाम 'भोग' है। जो काम दूसरों की प्रसन्नता के लिये उनके हित की दृष्टि से किया जाता है, उसका नाम 'सेवा' है।

जो लोग अपने मन की बात पूरी करने के लिये काम करते हैं, वे कभी उसको पूरी नहीं कर सकते; क्योंकि मन में एक के बाद दूसरी इच्छा उत्पन्न होती रहती है, उसके अभाव की कभी पूर्ति नहीं होती। इसलिये साधक को चाहिये कि जो काम करे, सेवा के रूप में करे। ऐसा कोई काम न करे जिसमें दूसरी का अहित होता हो। सेवा के रूप मै काम करते समय जिसकी सेवा करे, उसकी रुचि को समझकर करे, अपने मन की रुचि के अनुरूप न करे। यदि सेवा करने वाला यह सोचे कि अमुक वस्तु मैं जीवनी शक्ति अधिक है, यह खाने से उसका अधिक हित होगा और खाने वाले की उस वस्तु पर रुचि न हो तो वैसा करने से सेवा नहीं होगी; क्योंकि उसके मन की बात न होने पर उसे जो क्रोध आयेगा उससे उसकी वर्तमान जीवनी शक्ति का नाश होगा।

यदि मनुष्य में दूसरे को प्रसन्न करने की अर्थात् उसके मन के अनुकूल सेवा करने की शक्ति न हो तो उसे चाहिये कि उस काम से साफ–साफ इनकार कर दे। काम न करने से पाप नहीं लगता, उसे उलटा करने से लगता है।

जो लोग कहते हैं कि साधन में मन नहीं लगता, उनको समझना चाहिये कि हमने अपनी रुचि, विश्वास और योग्यता के अनुरूप साधन का निर्माण नहीं किया है। साधन का निर्माण हो जाने के बाद उसमें मन न लगे या उससे लक्ष्य की प्राप्ति न हो यह कभी नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि 'मैं साधन नहीं कर सकता या साधन में सफलता मिलना कठिन है, इस मान्यता को अपने जीवन से निकाल दे एवं यह निश्चय करे कि अब जैसी परिस्थिति प्राप्त है, उसी में मैं साधन कर सकता हूँ और उससे मुझे अवश्य सफलता मिलेगी। साधन नहीं हो सकता, इस बात को सर्वथा झठी समझे। दुसरी की बराबरी न करे। विवेक के प्रकाश में रुचि, विश्वास और योग्यता के अनुसार साधन का निर्माण करके साधन में तत्पर हो जाय।

जो साधन रुचिकर होता है, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता, जिसमें यह विकल्प रहित विश्वास होता है कि इससे मेरे समस्त अभाव मिटकर मुझे अपने साध्य की प्राप्ति हो जायगी, वह साधन साधक का जीवन बन जाता है। उसमें नित्य नया उत्साह और प्रेम बढ़ता रहता है।

साधक को चाहिये कि बलका, सुख का, निर्बलता का, दुःख का सदुपयोग करे अर्थात् जिस समय जो कुछ प्राप्त है, उसी का सदुपयोग करे। बीती हुई बातों का चिन्तन और भविष्य की आशा न करे। यदि निर्बलता का अनुभव हो तो संसार से सर्वथा निराश होकर परमेश्वर पर विश्वासपूर्वक निर्भर हो जाय।

शेखचिल्ली की भाँति मनोराज्य करने से कोई काम नहीं होता, प्रत्युत मनुष्य संकल्पों के जाल में फँस जाता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि जो काम कर सके, उसे ही पूरा कर दे। जो न कर सके, उसे करने का संकल्प छोड़ दे। सभी परिस्थितियाँ कभी किसी भी मनुष्य के अनुकूल नहीं हो सकतीं। वह जिसको अपना प्यारा मानता है, वही उसके मन की बात पूरी नहीं होने देता, उसके प्रतिकूल करने लग जाता है। राजा दशरथ सबसे अधिक कैकेयी से प्यार करते थे, वही उनके मन की बात पूरी होने में बाधक हो गयी।

अतः साधक को चाहिये कि दूसरों के मन की धर्मानुकूल बात को भगवान के नाते पूरी करे। अपने मन को बदल दे या उसका नाश कर दे। ऐसा करने में हरेक परिस्थिति में रास्ता मिल जायगा, कोई कठिनाई नहीं

रहेगी। अतः साधक को अपने मन की बात पूरी करने में शक्ति नहीं लगानी चाहिये।

जो कुछ होता है वह उस सर्वान्तर्यामी, सब के सुहद् प्रभु की सत्ता से होता है। अतः जब अपने मन की इच्छा के विपरीत हो, तब साधक को समझना चाहिये कि अब प्रभु अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं। अतः वे शीघ्र ही मुझे अपनाने वाले हैं, अपना प्रेम प्रदान करने वाले हैं। प्रत्येक परिस्थिति प्रभु का आदेश और सन्देश है। उसका सदुपयोग करने में और प्रभु के मन में अपना मन मिला देने में ही अपना सब प्रकार से हित भरा हुआ है। यह सोचकर साधक को कभी भी अनुकूलता की आशा नहीं करनी चाहिये और प्रतिकूलता से भय नहीं करना चाहिये। सदैव अपने प्रभुपर ही निर्भर रहना चाहिये।

मानव–जीवन साधन के लिये ही मिला है। साधन करने में मनुष्य सदैव स्वाधीन है। ठीक साधन करने से सफलता अवश्य होती है। अतः साधक के जीवन में भगवान पर अविचल विश्वास होना चाहिये एवं साधन में नित्य नव–प्रेम और उत्साह बढ़ते रहना चाहिये। हर समय प्रभु की कृपा का दर्शन करते हुए उनके प्रेम में विभोर रहना चाहिये।

।। श्रीहरिः ।।

(द्वितीय भाग)

(1)

(अपनी निर्बलता और भगवान की महिमा के ज्ञान से भगवान में प्रेम और विश्वास होता है)

प्रश्न–कल के सत्संग में यह बात सुनी थी कि साधक को अपनी निर्बलता का और प्रभु की महिमा का ज्ञान होने से भगवान में प्रेम और विश्वास बढ़ता है। अतः यह समझाने की कृपा करें कि साधक की निर्बलता क्या है और वह उसे कैसे समझे तथा भगवान की महिमा क्या है और उसे किस प्रकार समझा जाय।

उत्तर– मनुष्य में सबसे बड़ी निर्बलता तो यह है कि वह जिसको करना बुरा समझता है, उसे किये बिना नहीं रह सकता। जिसे करना उचित समझता है, उसे नहीं कर पाता। भगवान ने जो इसे सुचारु रूप से कर्म करने के लिये क्रिया शक्ति और विवेक शक्ति दी है, उसका यह सदुपयोग न करके दुरुपयोग करता है। तथापि भगवान् इतने उदार और दयालु हैं कि जब उन शक्तियों का ह्रास हो जाता है, तब सब कुछ जानते हुए भी उसके अपराध की ओर ध्यान न देकर बार–बार उसे वही शक्ति प्रदान करते रहते हैं। इस रहस्य को समझकर यदि साधक भगवान से उनके द्वारा प्रदत्त शक्ति का सदुपयोग करने का बल प्रदान करने के लिये प्रार्थना करे तो वह भी देने के लिये वे महान् उदार प्रभु सदैव प्रस्तुत हैं। भगवान के इस भाव को समझने वाला साधक उनमें प्रेम–विश्वास किये बिना रह ही कैसे सकता है?

जो साधक भगवान को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है, वह कैसा है, महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्ण है या नीच वर्ण–जाति का–इस बात का भगवान् जरा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है–वे उससे प्रेम करने के लिये

सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है, वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं—इसका वाणी द्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान की इस महिमा को समझने वाला साधक उन पर अपने को न्योछावर कर देने के सिवा और करेगा ही क्या?

इस प्रकार अपनी निर्बलता और भगवान की महिमा के विषय में साधक को विचार करते रहना चाहिये। विवेक के प्रकाश में विचार करने पर जानकारी का बढ़ना स्वाभाविक है।

(2)
(भगवान की कृपाका अनुभव)

प्रश्न— भगवान की कृपा, जो सब पर सदैव है, उसका अनुभव कैसे हो?

उत्तर—जिस साधक को अपने बल—पुरुषार्थ पर भरोसा है, जो यह समझता है कि अपने कर्मो के फलस्वरूप में प्राप्त शक्ति के द्वारा साधन करके मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लूँगा—उसे भगवत कृपा का अनुभव नहीं होता। वैसे ही जो विचार मार्ग में विश्वास रखने वाला साधक विचार के द्वारा ही अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है—उसे भी भगवत कृपा का अनुभव नहीं होता। भगवत कृपा का अनुभव उस साधक को होता है जिसको उनकी कृपा पर पूर्ण विश्वास है। जो हर समय हरेक परिस्थिति में उनकी कृपा की ही बाट जोहता रहता है तथा उस साधक को भी भगवत कृपा का अनुभव होता है, जो यह मानता है कि मुझे जो कुछ विवेक प्राप्त है—वह भगवान का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर तथा अन्य समस्त साधन सामग्री उन्हीं की है और उन्होंने ही कृपापूर्वक इनका सदुपयोग करने के लिये इनको मुझे दिया है। उन्हीं की कृपा, प्रेरणा से साधन में मेरी प्रवृत्ति तथा प्रगति होती है और होगी। इस प्रकार जो अपने को भगवान की

कृपा का पात्र मानता है और उस मान्यता में भी भगवान की कृपा को ही कारण समझता है उसे भगवत कृपा का अनुभव अवश्य होता है।

(3)
(मन की एकाग्रता)

प्रश्न—मन की एकाग्रता कैसे हो?

उत्तर— मन की एकाग्रता के उपाय साधकों की प्रकृति, योग्यता और विश्वास के भेद से अनेक हैं। उनमें प्रधान साधन वैराग्य अर्थात् राग का अभाव है। अभ्यास से भी मन की एकाग्रता होती है; परन्तु केवल अभ्यास द्वारा की हुई एकाग्रता टिकती नहीं, पुनः चंचलता में बदल जाती है।

जब मन में सब प्रकारकी इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब मन की स्वाभाविक एकाग्रता प्राप्त होती है और वही टिकती है।

जो मन की चंचलता से दुःखी होकर एकमात्र एकाग्रता का इच्छुक होता है, जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक जिसको चौन नहीं पड़ता, उसका मन भी अवश्य एकाग्र हो जाता है।

जो साधक किसी स्थिति की प्राप्ति के उद्देश्य से किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा भाव में अपने मन को लगाकर कर्तृत्वभाव पूर्वक मन को एकाग्र करने के लिये प्रयत्न करता है, उसका मन कालान्तर में एकाग्र नहीं रहताय क्योंकि कर्ता और भोक्ता भाव के रहते हुए जो स्थिति प्राप्त की जाती है, उसका अन्त अवश्य होता है—यह प्राकृतिक नियम है।

जो चित्त की एकाग्रता को ही सबसे अधिक आवश्यक काम समझ लेता है, जिसे चित्त की एकाग्रता न होने की पूरी वेदना है, चित्त एकाग्र हुए बिना जिसको चौन नहीं पड़ता, उसका भी चित्त एकाग्र हो जाता है।

(4)
(देहाभिमान रहित प्रेमी भक्त का आचरण)

प्रश्न–जब साधक का देहाभिमान सर्वथा गल जाता है और उसका हृदय विशुद्ध प्रेम से भरा रहता है, उस समय उसके व्यवहार में क्या अन्तर हो जाता है?

उत्तर–उसके सभी व्यवहार साधारण लोगों की अपेक्षा उलटे होते हैं, जहाँ लोगों का हरेक प्रवृत्ति में कोई–न–कोई स्वार्थ रहता है, किसी–न–किसी प्रकार की भोग–प्राप्ति की इच्छा रहती है–वहाँ उसकी सभी प्रवृत्तियाँ दूसरों की प्रसन्नता के लिये या यों कहना चाहिये कि भगवान की प्रसन्नता के लिये ही होती हैं। उसमें अपना कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। लोक–व्यवहार में जिनके साथ परिचय या किसी प्रकार का सम्बन्ध है और जिनके साथ नहीं है, जो उसके साथ अच्छा बर्ताव करते हैं और जो प्रतिकूल करते हैं–उन सबमें उसका समान भाव से ही प्रेम रहता है। प्रेम का भेद नहीं रहता। कर्मका भेद रहते हुए भी प्रेममें विषमता नहीं होती। अतः वह सबका प्रिय बन जाता है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सहज ही दूसरों का हित निहित रहता है; इसलिये सभी उससे प्यार करते हैं। यह उसके ऊपर के आचार–व्यवहार की बात कही गयी है।

(5)
(जीते हुए मर जाने का स्वरूप और भगवत प्रेम–प्राप्ति का साधन)

प्रश्न–जीते हुए मर जाना किसे कहते हैं?

उत्तर–प्राणों के रहते हुए जो शरीर और संसारसे सर्वथा सम्बन्ध रहित हो जाना है–यही जीते हुए मर जाना है।

प्रश्न–प्रेम को चाहते हुए भी ऐसा प्रेम जो नित्य–नया बढ़ता रहे, नहीं होता, इसके लिये क्या करें?

उत्तर–साधक को भगवत प्रेम से कभी निराश नहीं होना चाहिये।

जिसको प्रेम की चाह होती है, उसे प्रेम अवश्य मिलता है। प्रेम की भूमि का अनेक प्रकार की होती है। प्रेम की कभी पूर्णता नहीं होती। इस कारण प्रेमी को हरेक अवस्था में प्रेम की कमी का बोध होता है। अतः यदि साधक इस भाव से अपने में प्रेम की कमी का अनुभव करता है तब तो ऐसी बात नहीं है कि उसको सदैव नित्य–नया रहने वाला प्रेम प्राप्त नहीं हुआ; क्योंकि प्रेम का यह स्वभाव ही है। प्रेम अनन्त है। प्रेमारपद प्रभु भी अनन्त हैं। प्रेम की लालसा भी अनन्त है। फिर जहाँ तीनों अनन्त हों, वहाँ पूर्णता कैसे हो।

यदि प्रेम की इच्छा रहते हुए सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है, तो उसके न गहरी मिलने की वेदना होनी चाहिये। वह वेदना अवश्य ही प्रेम चाहने वाले को प्रेम की प्राप्ति करा देगी। यदि प्रेम की चाह भी है और उसके प्राप्त न होने की तीव्र वेदना भी नहीं है तो साधक को समझना चाहिये कि मेरे जीवन में किसी–न–किसी प्रकार का रस है, जो मुझे प्रेम से वंचित करने वाला है। विचार करने पर या तो किसी प्रकार के सद्‌गुण का रस या किसी प्रकार के सदाचार का रस दिखलायी देगा; क्योंकि प्रेम चाहने वाले के मन में भोग वासना और भोगों का रस तो पहले ही मिट जाना चाहिये। जब तक भोगामि रस प्रतीत होता है, तब तक तो प्रेम की सच्ची चाह ही नहीं होती।

भगवत प्रेम का मूल्य सद्‌गुण या सदाचार नहीं है। अतः उस प्रेम हरेक मनुष्य का अधिकार है। पतित–से–पतित भी भगवान का प्रेम प्राप्त कर सकता है। क्योंकि जिस प्रकार भक्त वत्सल होने के नाते श्रीहरि अपने भक्त से स्नेह करते हैं, वैसे ही वे पतित पावन प्रभु अधमीद्धारक और दीनबन्धु भी तो हैं ही। अतः दीन, हीन पतित से भी वे प्यार करते हैं। उसे भी अपने प्रेम का पात्र समझते हैं। वे मनुष्य से किसी सौन्दर्य या गुण के कारण प्रेम नहीं करते; क्योंकि अनन्त दिव्य सौन्दर्य, अनन्त दिव्य सद्‌गुणों

के वे केन्द्र हैं। किसी ऐश्वर्य के कारण प्रभु प्रेम करते हों, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनके समान ऐश्वर्य किसी के पास है ही नहीं। वे तो एकमात्र उसी से प्रेम करते हैं; जो उन पर विश्वास करके यह मान लेता है कि मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं। बस, इसके अतिरिक्त भगवान् और कुछ नहीं चाहते; इसलिये हरेक मनुष्य उनके प्रेम का अधिकारी है।

प्रेम प्रदान करना या न करना प्रभु के हाथ की बात है। वे जब चाहें, जिसको चाहें, अपना प्रेम प्रदान करें अथवा न करें इसमें साधक के वश की बात नहीं है, किन्तु उनका प्रेम न मिलने से व्याकुलता और बेचौनी तो होनी ही चाहिये। छोटी–से–छोटी चाह पूरी न होने से मनुष्य दुःखी हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। फिर जिसको भगवान के प्रेम की चाह है और प्रेम मिलता नहीं, वह चैन से कैसे रह सकता है? उसकी वेदना को किसी भी भोग का, सद्‌गुण का और सदाचार का अथवा सद्‌गति का सुख भी कैसे शान्त कर सकता है?

जो साधक उत्कृष्ट भोगों की इच्छा रखते हुए भगवान को अपनाते हैं, उनके मन की बात भगवान से छिपी नहीं है। वे उनको उत्कृष्ट भोग प्रदान करने के द्वारा उनसे प्यार करते हैं। जो सद्‌गुण–सदाचार चाहते हैं, उनको सद्‌गुण–सदाचार देते हैं। जो सद्‌गति चाहते हैं, उन्हें सद्‌गति देते हैं। पर जो केवल उन्हीं को चाहते हैं, उनके प्रेम के भूखे हैं, जिन्हें किसी प्रकार के भोग, गुण, गति से रस नहीं मिलता, जिन्होंने उन सबके रस का भी परित्याग कर दिया है–उनको भगवान् अवश्य ही अपना प्रेम प्रदान करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रेमी अपने प्रेमास्पद से किसी प्रकार का सुख नहीं चाहता। वह तो सदा उनके सुख में ही रहता है। उनको सुख प्रदान करने में, उनको रस देने में ही उसको रस मिलता है। इस कारण उसको जो कुछ भी शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त है, जो वास्तव में उन्हीं का दिया हुआ है, उन सबके द्वारा प्रेमी वही काम करता है, जो प्रेमास्पद प्रभु को प्रसन्न करने वाला हो। प्रेमी

अपने–आपको भगवान की प्रसन्नता के लिये–उनको सुख देने के लिये ही समर्पण कर देता है। उसका दूसरा कोई भी लक्ष्य या उद्देश्य नहीं होता।

सब प्रकार के सुखों की इच्छा का त्याग करने से प्रेमी को अपने प्रेमास्पद से वह प्रेम–रस जो नित्य नया रहता है, जिसकी कभी क्षति नहीं होती, कभी अन्त नहीं होता और जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती, अनवरत मिलता रहता है।

(6)
(मृत्यु से डरने का कारण तथा मृत्यु की महिमा)

प्रश्न–मनुष्य मरने से क्यों डरता है?

उत्तर– शरीर को मैं मान लेने के कारण और मृत्यु की महिमा को न जानने के कारण ही मनुष्य मृत्यु से डरता है।

प्रश्न–मृत्यु की महिमा जानना क्या है?

उत्तर–उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु अर्थात् लय–ये तीनों अलग–अलग दीखते हैं, परन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि इनमें कोई भेद नहीं है। बालक–अवस्था का विनाश और किशोर–अवस्था की उत्पत्ति–की भाँति ही जवानी और बुढ़ापा आदि सभी अवस्थाओं का परिवर्तन हर समय होता रहता है। एक मृत्यु ही दूसरे नवीन जीवन का कारण बनती है। यदि संसार में कोई न मरे तो जनसंख्या इतनी बढ़ जाय कि उसके रहने के लिये पृथ्वी पर कोई जगह ही न मिले और इतना दुःख बढ़ जाय कि कोई जीना पसन्द न करे। अतः मृत्युकी भी आवश्यकता है और वह बहुत महत्त्वकी चीज है। जो इस बात को समझ लेता है वह मौत से नहीं डरता; क्योंकि एक शरीर का नाश होकर दूसरा नया शरीर मिलता है। अतः मृत्यु ही नवीन जीवन प्रदान करती है। यह समझने वाला बुद्धिमान् मनुष्य कभी मृत्यु से नहीं डरता, वरं उसका स्वागत करता है। जैसे पुराने वस्त्र को उतारकर नया पहनने में किसी भी समझदार को डर नहीं लगता, वरं प्रसन्नता ही होती है,

क्योंकि वह उसमें कोई हानि नहीं समझता, बल्कि लाभ ही समझता है। मृत्यु का डर उन्हीं प्राणियों को होता है, जो प्राणी वर्तमान स्थिति का सदुपयोग नहीं करते; क्योंकि वर्तमान के सदुपयोग से ही भविष्य उत्कृष्ट और आशाजनक बनता है। अतः जिन्होंने अपने भविष्य को उज्ज्वल बना लिया है, वे मृत्यु से भयभीत क्यों हों? जिन्होंने वर्तमान का दुरुपयोग किया है वे ही मृत्यु से भयभीत होते रहते हैं।

(7)
(स्वाधीनता और पराधीनता का स्वरूप; भगवान के प्रेम की प्राप्ति)

प्रश्न–जीव स्वाधीन है या पराधीन?

उत्तर–ईश्वर के द्वारा दिये हुए विवेक का आदर करके प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करने में जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। यह स्वतन्त्रता ईश्वर की दी हुई है। इसके सिवा जीव सर्वथा परतन्त्र है। अतः वास्तव में स्वाधीन उसी को कहा जा सकता है जो अपने प्राप्त विवेक का आदर करके सब प्रकार की चाह से रहित हो गया है; क्योंकि किसी प्रकार की चाह के रहते हुए कोई प्राणी अपने को स्वतन्त्र नहीं कह सकता। जब तक मनुष्य का अन्तःकरण अपवित्र है, उसमें राग–द्वेष और भोग–वासना वर्तमान है, तब तक वह स्वाधीन नहीं है। जब तक वह जिस काम को करना उचित नहीं समझता, उसे भी करता रहता है और जिसे करना उचित समझता है, उसे नहीं कर पाता, तब तक वह स्वाधीन कैसा। अतः प्राप्त का दुरुपयोग करने वाला अज्ञान पूर्वक भले ही अपने को स्वाधीन समझे पर वास्तव में वह पराधीन ही है।

जब तक मनुष्य अपनी प्रसन्नता–हेतु किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति और अवस्था को मानता रहता है, तब तक वह अपने जीवन में दीन–हीन और पराधीन ही बना रहता है। कभी भी स्वाधीनता का अनुभव नहीं कर सकता। प्राप्त विवेक का सदुपयोग करके अपने बनाये हुए दोषों

को हटाकर अन्तःकरण को शुद्ध कर लेने में प्राणी सदैव स्वाधीन है। अतएव ऐसा करके वह प्रभु की कृपा से सब प्रकार की स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है; क्योंकि फिर उसकी प्रसन्नता किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहती।

साधक को मानना चाहिये कि मनुष्य में जो विवेक शक्ति है, यह किसी कर्म का फल नहीं है। यह तो उस ईश्वर की देन है, जो बिना ही कारण अपने मधुर स्वभाव से प्रेरित होकर सब पर कृपा करता रहता है अर्थात् जो प्राणिमात्र का सुहृद् है। शरीर, इन्द्रिय और सम्पत्ति आदि को कर्म फल माना जा सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु विवेक किसी क्रिया द्वारा उत्पन्न होने वाला नहीं है। यह तो मनुष्य को प्रभु की कृपा से ही मिला है।

अतएव ईश्वर के दिये हुए विवेक का आदर करते हुए उसका सदुपयोग करना चाहिये अर्थात् अपने बनाये हुए दोषों का विचार पूर्वक निरीक्षण करके उनको हटाना चाहिये और चित्त की शुद्धि करके अपने प्रभु पर विश्वास करना चाहिये और अपने–आपको उनके समर्पण करके उनके विशुद्ध प्रेम को प्राप्त करना चाहिये।

(8)
(मूर्ति पूजा का रहस्य तथा साधन का महत्त्व, अभिमान का सर्वथा त्याग, नामजप पर तुलसीदास जी का उदाहरण)

प्रश्न–मूर्ति पूजा कब तक करनी चाहिये?

उत्तर–कोई भी आस्तिक भक्त मूर्ति की पूजा नहीं करता, वह तो मूर्ति में अपने इष्ट देव की पूजा करता है, इसलिये जब तक अपना भास रहे तब तक अपने इष्ट की पूजा करते रहना चाहिये।

जब मनुष्य किसी पुस्तक या चिट्ठी को पढ़ता है, तब कागज या स्याही को नहीं पढ़ता; किन्तु उसमें लिखे हुए संकेत के द्वारा उसके अर्थ को पढ़ता है। कागज, स्याही और अक्षर तो उस अर्थ को समझाने के लिये

चिह्न मात्र हैं। अर्थ तो पढ़ने वाले की बुद्धि में परम्परा से विद्यमान है। इसी प्रकार भक्त मूर्ति को संकेत बनाकर अपने इष्ट की पूजा करता है, मूर्ति की पूजा नहीं करता।

इसी तरह गीता आदि में समझ लेना चाहिये। पढ़ने वाला उसे भगवान की वाणी समझकर पढ़ता है और उसी भाव से उसका आदर करता है।

श्री तुलसीदास जी राम–नामका जप करते थे तो उनके भाव में परमेश्वर और उनके पूर्ण ऐश्वर्य, माधुर्य आदि समस्त गुण नाम में भरे हुए थे, वे राम और ब्रह्म दोनों से नाम को बढ़कर मानते थे। उनके विषय में कोई भी यह नहीं कह सकता कि वे परमेश्वर का स्मरण नहीं कर रहे थे, शब्द मात्र का जप कर रहे थे। इससे साधक को यह समझ लेना चाहिये कि कोई भी साधन नीचे दर्जे का नहीं है।

जिस साधक को जो साधन प्रिय हो, अपनी योग्यता के अनुसार जिस साधन को वह सुगमता से कर सके, जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो, किसी प्रकार का भी सन्देह न रहे, वही साधन उसके लिये सर्वश्रेष्ठ है। किसी प्रकार का सन्देह न रहने से साधक की बुद्धि साधन में लग जाती है। प्रेम होने से हृदय द्रवित हो जाता है। विश्वास होने के कारण मन में किसी प्रकार का विकल्प नहीं उठता। उसमें मन लग जाता है। अतः साधन में कोई छोटा–बड़ा नहीं है।

किसी भी साधक को यह नहीं समझना चाहिये कि 'मुझे अमुक प्रकार की योग्यता प्राप्त नहीं है, इसलिये मुझे भगवान् नहीं मिल सकते।' यह मानना भगवान की महिमा को न जानकर उनकी कृपा का अनादर करना है। क्योंकि भगवान अपनी कपा से प्रेरित होकर ही साधक को मिलते हैं। उनकी कृपा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय उनसे मिलने की उत्कण्ठा, उनके प्रेम की अतिशय लालसा ही है। धन, बल, सुन्दरता या किसी प्रकार के साधन के बल से भगवान नहीं मिल सकते। साधन उनका या उनके प्रेम

का मूल्य नहीं है। साधन तो अपने बनाय हए दोषों को मिटाने के लिये है, जो भगवान द्वारा दी हुई योग्यता का सदुपयोग करने मात्र से होता है।

मनुष्य चाहे कैसा ही दीन–हीन मलिन क्यों न हो, कितना ही बड़ा पात की क्यों न हो, वह जैसा और जिस परिस्थिति में है, उसी में यदि विश्वास पूर्वक भगवान का हो जाय और उनको पाने के लिये व्याकुल हो उठे, भगवान के वियोग में उसे किसी प्रकार चौन न पड़े, तो भगवान् अवश्य मिल जाते हैं।

भगवान् उसी पतित को मिलते हैं, जो पतित नहीं रहना चाहता अर्थात् पुनः पाप नहीं करना चाहता। ऐसे साधक को भगवान् परम पवित्र बनाकर अपना लेते हैं, परन्तु जिसको अपने पापों का पश्चात्ताप नहीं है, जो उनको छोड़ना नहीं चाहता उसे भगवान् नहीं मिलते। वैसे ही जिसको अपने गुणों का अभिमान होता है, उसे भी नहीं मिलते। साथ ही यह बात भी है कि जब तक साधक के मन में किसी दूसरी वस्तु की चाह रहती है, तब तक भगवान् नहीं मिलते। किन्तु उसकी चाह के अनुरूप वस्तु और परिस्थिति, यदि उसके पतन में हेतु न हो तो प्रदान कर देते हैं।

भगवान की यह शर्त है कि मुझसे मिलने के बाद अन्य किसी से साधक नहीं मिल सकता; परन्तु ऐसा साधक कोई बिरला ही होता है जो हर समय एकमात्र उन्हीं से मिलने के लिये इच्छुक रहता हो, जिसके समस्त काम पूरे हो चुके हों, जिसके मन में अन्य किसी प्रकार के संयोग की चाह नहीं रही हो। अधिकांश मनुष्य तो अनेक प्रकार की चाहों से घिरे रहते हैं। आज मुझे अमुक काम करना है, अमुक मित्र से मिलना है, अमुक स्थान में जाना है, उसके बाद वह करना है इत्यादि।

जिसमें अधिक योग्यता होती है, उसके लिये साधन भी अधिक कठिन होता है और कम योग्यता वाले के लिये साधन भी सहज सरल होता है। जैसे कोई धनी–मानी मनुष्य पुष्कर–स्नान करने के लिये जाय, तो मोटर से या फर्स्ट क्लास में यात्रा करके जाना पड़ता है। उसमें बहुत–सा धन खर्च करना पड़ता है। वहाँ जाकर भी दान आदि में उसे बहुत–सा धन देना

पड़ता है; किन्तु एक गरीब भिखारी या नौकर जाता है तो उलटा उसे कुछ–न–कुछ मिलता है। खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ता। पुष्कर–स्नान दोनों को ही मिल जाता है। उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं होता।

जब तक साधक में किसी प्रकार के गुण–दोष का अभिमान रहता है, तब तक भगवान् नहीं मिल सकते। इसलिये साधक को चाहिये कि अपने में सद्‌गुणों के अभिमान को स्थान न दे और दोषों की उत्पत्ति न हो, बस, यही साधक का प्रयत्न है।

भगवान को और उनके प्रेम को प्राप्त करने के लिये केवल मात्र सरल विश्वास पूर्वक उनसे सम्बन्ध होना चाहिये। किसी प्रकार के गुण का अभिमान नहीं हो और किसी प्रकारके दोष उत्पन्न न हों तो उस साधक से भगवान् छिप नहीं सकते।

(9)
(प्रेम, मोह और आसक्ति का भेद)

प्रश्न–स्वामी जी ! प्रेम तो सब एक ही है न, वह चाहे पुत्र में हो, चाहे अन्य किसीमें, प्रेम ही तो है?

उत्तर–जो पुत्र और पति आदि में प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, मोह है। उसी को राग और आसक्ति भी कहते हैं। प्रेम और मोह में बड़ा अन्तर है। जिसमें मोह होता है, जो मोह के कारण प्रिय लगता है, उसमें स्वार्थ भाव रहता है। उसमें एक–दूसरे से किसी प्रकार का सुख लेने की चाह रखता है, किन्तु प्रेम में स्वार्थ के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रेमी तो हर प्रकार से अपने प्रेमास्पद को सुख देनेके लिये–अर्थात् उनकी प्रसन्नता के लिये ही प्रत्येक काम करता है। वह अपने प्रियतम के लिये सर्वस्व समर्पण कर देता है। प्रेमी का जीवन अपने प्रेमास्पद को सुख पहुँचाने के लिये ही होता है। अपने प्रियतम का सुख ही प्रेमी का सुख है। प्रियतम की प्रसन्नता ही उसकी प्रसन्नता है। प्रेमास्पद का प्रेम रस ही उसका अस्तित्व है, अपने लिये उसे अन्य किसी प्रकार के सुख की चाह नहीं रहती।

आप किसी भी प्रेमी भक्त की जीवनी पढ़िये। कहीं भी ऐसी घटना नहीं मिलेगी, जिसमें प्रेमी भक्त ने अपने प्रभु से अपने सुख के लिये कभी किसी प्रकार की माँग की हो। माँग पेश करने की बात तो दूर रही, वह तो देने पर भी कुछ स्वीकार नहीं करता। केवल मात्र उनका प्रेम–ही–प्रेम चाहता है। अतः भगवान् स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं। फिर भगवान की सब चेष्टा भक्त को रस देने के लिये और भक्त की भगवान को रस देने के लिये हुआ करती है। वियोग काल में भक्त भगवान के विरह में व्याकुल रहता है और भगवान् भक्त के विरह में व्याकुल रहते हैं। इधर सीता राम के वियोग में व्याकुल हैं तो उधर राम सीता के वियोग में व्याकुल हैं। यही भक्त और भगवान की दिव्य प्रेमलीला है।

(10)

(निष्कामता का महत्त्व, लौकिक और पारलौकिक उन्नति की एकता – क्रिया और कर्म के स्वरूप का भेद तथा कर्म फल–प्राप्ति का कारण कुन्ती का सतीत्व और उसकी धर्मनिष्ठा तथा धर्म का स्वरूप)

प्रश्न–गीता में निष्काम कर्म के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का उपाय बताया गया है। हम लोग गृहस्थ हैं। हम लोगों के लिये लौकिक उन्नति की चेष्टा करते हुए निष्काम कर्म करना बड़ा कठिन है, तो कैसे करना चाहिये?

उत्तर–लौकिक उन्नति और पार लौकिक उन्नतिके अर्थात् भगवत प्राप्ति के साधन अलग–अलग नहीं हैं। जो वास्तविक लौकिक उन्नति का साधन है, वही पार लौकिक उन्नति का भी साधन है। इन दोनों का भेद मानकर लोग अपने कर्तव्य में भूल कर बैठते हैं। वास्तव में लौकिक उन्नति वाला वही है कि जिसकी आवश्यकता दूसरों को हो जाय, संसार में जो बड़े आदमी समझे जाते हैं, वे भी जिसके पीछे–पीछे फिरते रहें और उनकी कोई वस्तु वह अपने उपयोग में ले ले तो लोग अपना अहोभाग्य समझें।

जो मनुष्य दूसरों से कुछ लेना चाहता है, अपने सुख का आधार दूसरों को मानता है, दूसरों से आशा लगाये रहता है, वह क्या उन्नतिशील कहा जा सकता है? वह तो चाहे कितना भी बड़ा वैभवशील क्यों न हो, दरिद्र ही है। उन्नतिशील तो वही है जो प्राप्त विवेक का आदर और बल का सदुपयोग करता है। दूसरों के हित में अपने तन, मन, धन को लगा देता है। लोभी मनुष्य कभी भी उन्नतिशील नहीं हो सकता।

विचार करना चाहिये कि कर्म करने का विधान किस लिये है? विचार करने पर मालूम होगा कि मनुष्य में जो क्रिया शक्ति का वेग है, उसकी जो करने में आसक्ति है, उसे मिटाने के लिये ही कर्मों का विधान है। अतः अपने स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार जो कर्म कर्तव्य रूप से प्राप्त हुआ है, उसे खूब सावधानी के साथ उत्साह पूर्वक सांगोपांग पूरा कर दे; किंतु उस कर्म के फलरूप में प्राप्त होने वाले पदार्थो से अपना मूल्य अधिक समझे। उनके बदले में अपने–आपको चे नहीं; क्योंकि जो कर्म से प्राप्त होने वाले फल से अपना मूल्य कम कर लेता है, उनके बदले में अपने को बेच देता है, वह न तो वास्तविक लौकिक उन्नति कर सकता है और न पार लौकिक उन्नति ही कर सकता है। वह उन वस्तुओं की दासता के कारण सदैव अभाव का ही अनुभव करता रहता है।

जो यह समझता है कि यदि मुझे कर्म से कुछ लेना ही नहीं है तो मैं कर्म क्यों करूँ, वह भी कर्म को ठीक–ठीक नहीं कर सकता। आलसी बन जाता है। जो फल के लालच से कर्म करता है, उसका लक्ष्य भी कर्म की सुन्दरता पर नहीं रहता। अतः वह भी करने योग्य कर्म को ठीक–ठीक पूरा नहीं कर सकता। लोभ के वश में होकर वह उस कर्म में अनेक प्रकार की त्रुटियों का समावेश कर लेता है। कर्म को सांगोपांग तो वही कर सकता है, जिसके मन में फलका लालच नहीं है, किन्तु कर्तव्य–कर्म को सांगोपांग पूरा करना ही जिसका उद्देश्य है।

कर्म का जो दृश्य फल है, वह तो कर्ता चाहेगा तो भी होगा और न चाहेगा तो भी होगा। चाहने और न चाहने से उसमें कोई अन्तर नहीं

मुड़ेगा। जैसे भोजन करने से भूख की निवृत्ति तो दोनों की ही होगी; परंतु जो स्वाद के लालच से भोजन करेगा, वह कर्म, विधान के विपरीत वस्तुओं को खाकर उलटा अपना अहित कर लेगा। इसी प्रकार व्यापार में भी समझ लेना चाहिये। व्यापार में लाभ या हानि तो जो होनी है, वही होगी; परंतु जो मनुष्य लाभ के लालच से और हानि के भय से युक्त होकर व्यापार करेगा, वह उस व्यापार में उन नियमों का भी यथा योग्य पालन नहीं कर सकेगा, जिनका पालन करना लौकिक उन्नति की दृष्टि से आवश्यक है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि निष्काम कर्म में कोई कठिनाई नहीं है, प्रत्युत सकाम की अपेक्षा निष्काम ही सुगम है और वही लौकिक उन्नति का भी उपाय है।

जो सम्पत्ति शाली मनुष्य लोभ के वश होकर उस सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं करता, उससे निर्धनों के अभाव की पूर्ति नहीं करता, वह लोक में भी उन्नतिशील नहीं माना जाता तथा जो निर्धन मनुष्य धन की कामना का त्याग नहीं करता, वह भी सुखी नहीं हो सकता। अतः लौकिक उन्नति के लिये भी सब प्रकार से कामना का त्याग आवश्यक है।

जो साधक अपने स्वभाव और परिस्थिति के अनुरूप कर्तव्य रूप से प्राप्त कर्म को बिना किसी प्रकार के फल की चाह के ठीक–ठीक पूरा कर देता है, जिस प्रकार उसे करना चाहिये, ठीक वैसे ही करता है, आलस्य या प्रमाद वश उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं करताय शौच करना, स्नान करना, जीविका के कर्म करना, सेवारूप कर्म करना, भोजन करना, शयन करना आदि जितने भी आवश्यक कर्म हैं, सबको जो यथावश्यक समय पर भली भाँति कुशलता और उत्साह पूर्वक पूरा कर देता है, उस कर्तव्य पालन से उसकी क्रिया शक्ति का वेग और कर्म करने की आसक्ति मिटती जाती है। चित्त शुद्ध हो जाता है। भोग–वासना नष्ट हो जाती है। किसी प्रकार की चाह न रहने से चित्त निर्विकल्प हो जाता है। फिर योग से सामर्थ्य, विवेक से बोध और वैराग्य से भगवत प्रेम की प्राप्ति होकर उसका परलोक भी सब प्रकार से सुधर जाता है।

प्रश्न– भगवान ने गीता में कहा है कि शरीर रूप यन्त्र पर चढ़े हुए प्राणियों की उनके हृदय में स्थित परमेश्वर घुमाता है अर्थात् उनसे कर्म करवाता है, तब फिर उनका फल प्राणियों को क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर–क्रिया में और कर्म में अन्तर है। उस अन्तर को समझ लेने पर इसका उत्तर हल हो जायगा। जिसमें कोई कर्ता नहीं होता, जो किया नहीं जाता, अपने–आप होता है, जैसे हवासे पेडॉका हिलना आदि, वह तो क्रिया है और जो कर्ता बनकर राग–द्वेष पूर्वक किया जाता है, वह कर्म है अतः जिसका सचमुच यह भाव है कि जो कुछ हो रहा है, वह ईश्वर की शक्ति और प्रेरणा से ही हो रहा है। मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भाव से जो अपने को सर्वथा असंग समझ लेता है, न तो उस कर्म का कर्ता बनता है और न उसमें आसक्त होता है, वह भोक्ता भी नहीं होता। उसके द्वारा होने वाला कर्म वास्तव में कर्म नहीं है। वह तो क्रियामात्र है। अतः उसका कोई फल नहीं बनताय किन्तु जो मनुष्य स्वयं किसी कर्म का कर्ता बनकर उसे आसक्ति पूर्वक, किसी प्रकार की फल–कामना से करता है, उसे उस कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जो कर्ता है, वह भोक्ता है।

प्रश्न–कुन्ती देवी सती मानी जाती हैं; किन्तु सूर्य आदि देवताओं के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने पर भी उनका सतीत्व अक्षुण्ण कैसे रहा? यह समझ में नहीं आता, अतः इसे समझाइये।

उत्तर–उस समय आजकल की–सी परिस्थिति नहीं थी। उन लोगों को धर्म का ज्ञान था और धर्म में निष्ठा थी। स्त्रियों के मुख्य दो धर्म माने गये हैं–एक तो सती धर्म दूसरा साध्वी धर्म। सती धर्म तो वह है जिसमें पति को ही परमेश्वर मानकर सर्वस्व उसके समर्पण किया जाता है और साध्वी धर्म वह है जिसमें परमेश्वर को ही पति मानकर उन्हें सर्वस्व समर्पण किया जाता है। मीराँ, गोपियाँ और उसी ढंग की अन्य स्त्रियाँ तो साध्वी धर्म का पालन करने वाली थीं। कुन्ती देवी सती धर्म का पालन करने वाली थीं। सती स्त्री का एक पति के सिवा और कुछ भी अपना नहीं रहता। वह शरीर, घर आदि किसी पर अपना अधिकार नहीं मानती। सब कुछ पति का ही

मानती है। वह जो कुछ करती है, पति के लिये ही करती है। पति की प्रसन्नता और हित ही एकमात्र उसका लक्ष्य होता है। कुन्ती के सामने परिस्थिति ऐसी थी कि शाप के भय से पाण्डु स्त्री सहवास कर नहीं सकते। यदि करें तो उनकी मृत्यु हो जाय। पाण्डु के मन में पुत्र की वासना थी। अतः उन्होंने उस वासना से प्रेरित होकर जब कुन्ती से अपने मन की बात कही, तब कुन्ती ने पहले तो पति को विनय पूर्वक धर्म का तत्त्व समझाने की चेष्टा की। उसपर भी जब उनकी वासना शान्त नहीं हुई, तब सब हाल कह सुनाया कि 'मुझे दुर्वासा से मन्त्र प्राप्त हुए हैं, उनके प्रभाव से मैं देवताओं को बुलाकर पुत्र उत्पन्न कर सकती हूँ। इस पर पाण्डुने आज्ञा दी कि तुम देवताओं से पुत्र उत्पन्न करो। इस परिस्थिति में कुन्ती ने बिना किसी भोग वासना के एकमात्र पति की प्रसन्नता के लिये उनकी आज्ञा का पालन किया। इससे उसका सतीत्व क्षीण क्यों होता? उसने तो जो कुछ किया, वह सती धर्म का ही पालन किया। वह शरीर को अपना थोड़े ही मानती थी। वह तो उस पर अपने पति का ही पूरा अधिकार मानती थी।

प्रश्न–कर्ण की उत्पत्ति के समय तो उसका विवाह नहीं हुआ था। उस समय उसका धर्म कैसे सुरक्षित रहा?

उत्तर– उस समय कुन्ती अवि वाहित थी। अतः उसके शरीर पर दूसरे किसी का तो अधिकार था नहीं। उसने ऋषि द्वारा प्राप्त मन्त्रों की परीक्षा करने के लिये बिना किसी प्रकार की भोग वासना के सद्भाव पूर्वक सूर्य का आवाहन किया था। सूर्य देव के प्रत्यक्ष होने पर उसने स्पष्ट शब्दों में इनकार कर दिया कि मैंने तो आपका दर्शन करने के लिये ही बुलाया था, किसी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर नहीं। इस पर भी सूर्यन कहा कि मेरा आना व्यर्थ नहीं हो सकता। अतः तुम्हारे गर्भ से पुत्र तो होगा; परन्तु तुम्हारे कौमार्य का नाश नहीं होगा।

इस घटना से कुन्ती को तो इसलिये कोई दोष नहीं लगा कि उसने अपनी इच्छा से वह काम नहीं किया। उसे विवश होकर करना पड़ा।

सूर्य को इसलिये दोष नहीं लगा कि देव योनि भोग योनि है। उसमें नये कर्म नहीं बनते। उसके कर्मों का फल नहीं बनता।

प्रश्न–क्या आजकल भी कोई स्त्री अपने पति की आज्ञा से ऐसा कर सकती है?

उत्तर–यदि कोई कुन्ती–जैसी सती स्त्री हो, जिसमें किंचिन्मात्र भी भोग–वासना न हो तथा देवता दिव्य भाव से जिसके बुलाने पर आ जायँ और पाण्डु–जैसा धर्मात्मा पति आज्ञा देने वाला हो तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु वैसी परिस्थिति इस समय नहीं है। देश–काल के अनुसार धर्म के बाह्य स्वरूप में भेद होता है। आन्तरिक उद्देश्य में नहीं। धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य प्राणों के रहते हुए वासनाओं से रहित होना है, अतः धर्माचरण वही है जो मनुष्य को वासना रहित बनाने में समर्थ हो।

(11)
(स्वप्न का रहस्य, ईश्वर विश्वास का और विवेक का महत्त्व)

प्रश्न–स्वप्न क्या है?

उत्तर–जाग्रत में देखे, सुने, अनुभव किये हुए भावों के जो संस्कार मन में जम जाते हैं, उन्हीं का प्रकारान्तर से स्वप्न का दृश्य बन जाता है। स्वप्न में भी प्रारब्ध–कर्म का उपभोग होता है।

प्रश्न–भगवत प्राप्ति के बाद स्वप्न आता है या नहीं?

उत्तर– स्वप्न तो एक अवस्था है। अतः जब तक शरीर रहता है, तब तक आता ही है। जिसका जैसा भाव जाग्रत में रहता है, वैसा ही स्वप्नमें भी रहता है। जिसका मन शुद्ध हो जाता है उसको स्वप्न भी वैसा ही आता है। सूक्ष्म शरीर के व्यापार का नाम स्वप्न है। स्वप्न में मन का जैसा स्वरूप है, वैसा सामने आ जाता है।

प्रश्न–स्वप्न के पुण्य–पाप लगते हैं या नहीं?

उत्तर– नहीं लगते; क्योंकि जगते ही उस दृश्य में असत् बुद्धि हो जाती है। चित्त शुद्धि तक ही मनुष्य का प्रयत्न है। चित्त शुद्ध हो जाने के बाद करना कुछ भी नहीं रहता। जो कुछ करना है, वह अपने–आप हो जाता है, जो प्राप्त होना है, वह मिल जाता है। अन्तिम साधन जीव का पुरुषार्थ नहीं है। वह तो भगवान की कृपा है, उसी पर साधक को निर्भर रहना चाहिये।

प्रश्न–गाँधी जी के विषय में आपका क्या खयाल है?

उत्तर–वे किस स्थिति तक पहुँचे थे, यह तो वे ही जानें, या परमेश्वर। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि मुझसे अच्छे थे। ईश्वर निर्भरता और मानवता उनके जीवन में आदर्श रूप में थीं। ईश्वर विश्वास ही समस्त साधनों का मूल है। विश्वास के साधन में उत्साह और सफलता नहीं होती।

प्रश्न–बिना विश्वास के अर्थात् श्रद्धा के तो कोई भी काम सफल नहीं होता। यज्ञ, दान आदि कर्मों में भी श्रद्धा आवश्यक है।

उत्तर–कर्म में विधि की प्रधानता है। वहाँ श्रद्धा भी विधि के रूप में ही है। यदि विधिकी कमी हो तो कर्म का जैसा फल होना चाहिये, वैसा नहीं होता, उसके फल में भेद हो जाता है। परन्तु उपासना में अर्थात भगवत प्राप्ति के साधनों में विश्वास ही मुख्य है। बिना विश्वास किसी भी साधन में साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

साधक के जीवन में ईश्वर विश्वास, उनके प्रेम की लालसा और उन पर निर्भरता होनी चाहिये। अपने प्रेमास्पद के वियोग से व्याकुल रहते हुए उन पर निर्भर रहना, प्रेम की भूख और निर्भरता दोनों का एक साथ होना–यही साधक–जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ है।

जब मनुष्य सुख और दुःख का कारण किसी दूसरे को मान लेता है, तब राग–द्वेष के कारण चित्त अशुद्ध हो जाता है। जब मनुष्य अपनी प्रसन्नता का कारण किसी दूसरे के कर्तव्य को मान लेता है, उसकी

प्रसन्नता दूसरे पर निर्भर करती है, यही उसके जीवन का सबसे बुरा समय है, ऐसा साधक को समझना चाहिये।

कुछ लोग सुख और दुःख को कर्मों का फल मानते हैं, परन्तु वास्तव में कर्मों का फल सुख–दुःख नहीं है। कर्मो के फलरूप में तो परिस्थिति प्राप्त होती है। उसमें सुख और दुःख तो मनुष्य के भावानुसार होते हैं। विवेकशील मनुष्य भयंकर परिस्थिति में दुःखी नहीं होता। अपितु उसको अपनी उन्नति का हेतु समझकर उसका सदुपयोग करता है तथा सब प्रकार की परिस्थितियों को परिवर्तनशील, अनित्य और अपूर्ण, समझकर, परिस्थितियों से ऊपर का जीवन प्राप्त करने के लिये उनसे असंग हो जाता है।

भगवत–विश्वासी साधक तो प्रतिकूल परिस्थितिको भगवान की अहैतु की कृपा समझकर उनके प्रेम में मुग्ध हो जाता है। वह समझता है कि अब प्रभु अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं। इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य क्या हो सकता है?

जिसको लोग सुख कहते हैं, उस अनुकूल परिस्थिति को भी भगवद् भक्त भगवान की दया मानता है। वह समझता है कि यह परिस्थिति भगवान ने मेरे छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिये और विश्व रूप में अपनी सेवा करवाने के लिये दी है। अतः वह उसमें आसक्त न होकर प्राप्त शक्ति और पदार्थों को भगवान की प्रसन्नता के लिये जगत–जनार्दन की सेवा में लगाकर भगवान की प्रसन्नता में प्रसन्न रहता है।

साधक को चाहिये कि अनुकूल और प्रतिकूल किसी प्रकार की परिस्थिति में आबद्ध न हो, उसमें रस न ले अर्थात् उनमें ही सन्तुष्ट होकर परिस्थितियों से अतीत के जीवन से निराश न हो जाय; किन्तु हरेक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करके उससे ऊपर उठने की चेष्टा रखे। प्रत्येक परिस्थिति प्राणी के लिये साधन रूप है, साध्य नहीं।

कृपा और दया के शब्दार्थ में कोई खास भेद नहीं है। परन्तु अनुकूल परिस्थिति की अपेक्षा प्रतिकूल परिस्थिति साधक को भगवान की ओर अधिक

आकर्षित करती है। इसलिये उसमें साधक को भगवत–कृपा का अनुभव होता है। दया तो हरेक दुःखी पर हो सकती है, परन्तु जिस दयाके साथ अपनत्व और प्रेम का भाव अधिक हो, उसे 'कृपा' कहा जा सकता है।

(12)

(ईश्वर के प्रेमी भक्त में सांसारिक कामना का अभाव और भक्ति का स्वरूप, नामजप और स्मरण का भेद मनुष्य क्या करने में स्वतन्त्र है? इसका उत्तर और साधक का कर्तव्य – गुरुतत्त्व का विवेचन और शिष्य का कर्तव्य)

प्रश्न–ईश्वर का भक्त यदि आवश्यकता पड़ने पर दूसरों से कामना न करके ईश्वर से कामना करे तो क्या दोष है?

उत्तर–जब तक साधक का संसार से सम्बन्ध रहता है, तब तक उसका भगवान से सम्बन्ध नहीं होता। संसार से और शरीर से सब प्रकार का सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र भगवान से सम्बन्ध जोड़ लेना, भगवान के सिवा किसी से कोई नाता न रहना यही तो भक्ति है। दो सम्बन्ध एक साथ नहीं रह सकते। लड़की जब पिता के घर से सर्वथा सम्बन्ध छोड़ती है, तब पति के घर से सम्बन्ध होता है। जब साधक का शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं रहता, तब कोई वस्तु या परिस्थिति उसके लिये आवश्यक कैसे हो सकती है और वह किसी प्रकार की कामना कर ही कैसे सकता है। जो वस्तुओं की कामना करता है वह तो वास्तव में उन वस्तुओं का ही भक्त है, ईश्वर का नहीं।

भगवान में पूर्ण विश्वास और नित्य नया प्रेम हो, इसी का नाम भक्ति है। यदि साधक अपनी कमजोरी का अनुभव करे और किसी प्रकार के संकल्प को विचार के द्वारा नहीं मिटा सके तो उसे भगवान के समर्पण कर दे। उनकी मरजी पर छोड़ दे। वे चाहे उसे पूरा करके मिटा दें, चाहे बिना पूरा किये मिटा दें। साधक को पहले से किसी प्रकार का निश्चय करके माँग नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उसका वास्तविक हित उस संकल्प को पूरा

करने में है या मिटाने में, इस बात को साधक नहीं जानता। अतः साधक को अपनी राय कायम नहीं करनी चाहिये और कामना पूर्ति के लिये प्रार्थना भी नहीं करनी चाहिये। सब कुछ भगवान पर ही छोड़ देना चाहिये। वे जो कुछ करें उसी में प्रसन्न रहना चाहिये। यदि प्रार्थना करनी ही हो तो उनके पवित्र प्रेम की प्राप्ति के लिये, सुख–दुःख के सम्बन्ध से छूटने के लिये, सब प्रकार की चाह से रहित होने के लिये माँग पेश करे।

इससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि भगवान् कामना पूर्ण करने में असमर्थ हैं या कामना पूरी नहीं करते। जो साधक भगवान का भजन–स्मरण किसी कामना की पूर्ति के लिये करता है, वह कामना यदि उसके पतन में हेतु नहीं हो तो भगवान् अवश्य पूरी करते हैं; परंतु उससे उस साधक को भगवान का प्रेम नहीं मिलता।

भगवान का चिन्तन तो चिन्तन के लिये नहीं, उनके प्रेम के लिये होना चाहिये। चिन्तन प्रेम के लिये किया जाता है। चिन्तन के लिये चिन्तन करनेका कोई स्वारस्य नहीं होता।

प्रश्न– भगवान के नाम का जप करना–यही तो भक्ति है या और कुछ?

उत्तर–जिसमें प्रेम होता है उसके नाम का जप करना नहीं पड़ता। विचार करके देखें–जिन स्त्री, पुत्र और मित्र आदि में प्यार होता है, क्या कोई उनका जप करता है? जिसको धन प्रिय होता है, क्या वह उसका जप करता है? जिससे प्यार होता है उसका स्मरण और चिन्तन तो अपने–आप होता है, करना नहीं पड़ता; क्योंकि प्रेम प्रयत्न साध्य नहीं है, वह तो भगवान पर विश्वास करके उनको अपना समझकर अपने–आपको उनके चरणों में समर्पण कर देने से होता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि नाम–जप नहीं करना चाहिये। जिसका नाम पर विश्वास हो उसके लिये नाम–जप बहुत ही लाभदायक है। मेरे कहने का अभिप्राय तो इतना ही है कि नाम–जप ही भक्ति है, ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न– मनुष्य क्या करने में स्वतन्त्र है और किस में परतन्त्र है?

उत्तर–हरेक मनुष्य प्राप्य वस्तु का सदुपयोग या दुरुपयोग करने में स्वतन्त्र है, परंतु उसके फल भोग में स्वतन्त्र नहीं है, फल देना विधाता के अधीन है। वह जिस कर्म का फल जब और जिस प्रकार देना चाहे, दे सकता है। प्राप्य परिस्थिति के सदुपयोग का नाम भलाई और दुरुपयोग का नाम बुराई है। भलाई का फल सुख और बुराई का फल दुःख होता है। जो कुछ बल अर्थात् वस्तु, परिस्थिति और उनका उपयोग करने की शक्ति प्रकृतिसे मिलती है वह कर्म से मिलती है और विवेक भगवान की कृपा से मिलता है। विवेक किसी कर्म का फल नहीं होता।

शुभ और अशुभ कर्मो के अनुसार जो प्रारब्ध बनता है, उसके अनुसार परिस्थिति मिलती है। उसके सदुपयोग और दुरुपयोग से फिर प्रारब्ध बनता है, उसका फल भोगने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है। इसी प्रकार यह कर्म भोग का चक्र चलता रहता है। सुख भोग का लालच मनुष्य को अपना कर्तव्य पालन नहीं करने देता।

इसलिये साधक को चाहिये कि सुख भोग के लालच का त्याग करे और प्रतिकूलता से भय भीत न हो, प्रत्युत भगवान की अहैतु की कृपा से जो विवेक प्राप्त हुआ है, उसका आदर करके प्रतिकूल परिस्थिति को भी भगवान की कृपा मानकर प्रसन्न रहे। किसी प्रकार के सुख भोग की कामना न करे। सुख भोग को कामना के त्याग को ही निष्कामभाव कहते हैं। अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर उसमें आसक्त न हो, उसको उदारता पूर्वक दुःखियों को सुख पहुँचाने में लगा दे और उसमें ऐसा समझे कि भगवान की दी हुई वस्तु उन्हीं के आज्ञानुसार उनके काम में लग रही है, इसमें मेरा कुछ नहीं है। इस भाव से साधक की वासना मिट जाती है।

अपने अधिकार का त्याग करके अपने कर्तव्य पालन द्वारा भगवान के नाते दूसरों के अधिकार की रक्षा करना और उनके हितकारी भावना से उनको सुख पहुँचाना दृयही साधक का पुरुषार्थ है।

जिस बात का निर्णय करना हो, उसका अच्छे–से–अच्छा पहलू लेकर कर्तव्य का निश्चय करना चाहिये, इसी में प्राप्त विवेक की सार्थकता है।

प्रश्न– गुरु से उऋण होने के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिये?

उत्तर–जिससे हमें अपने कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त हो अर्थात् जो हमारे साधन का निर्माण कर दे, वही गुरु है एवं गुरु द्वारा उपदिष्ट साधन को जीवन में ढाल लेना, उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना ही गुरु से उऋण होना है।

हाड़–मांस का शरीर गुरु नहीं है। गुरु में जो दिव्य ज्ञान है वही गुरुतत्त्व है। उसका आदर करके उनकी आज्ञा के अनुसार अपना जीवन बना लेना ही शिष्यका शिष्यत्व है।

मनुष्य को गुरुतत्त्व की प्राप्ति चार प्रकार से होती है–

1–पहला गुरु तो भगवान की कृपासे मिला हुआ विवेक है। उससे हरेक मनुष्य अपने साधन का निर्माण कर सकता है। जो प्राप्त विवेक का आदर करता है, उस साधक को बाह्य सद्गुरु की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो इसका आदर नहीं करता, वह दूसरे गुरु को पाकर भी साधन का निर्माण नहीं कर पाता।

2–दूसरा गुरु व्यक्ति के रूप में मिलता है। जब मनुष्य अपने प्राप्त विवेक का आदर नहीं करता और सद्गुरु की आवश्यकता समझकर उनको पाने की चेष्टा करता है, तब उसे व्यक्ति के रूप में गुरु की प्राप्ति होती है। उनकी कृपा से भी साधक उनके उपदेशानुसार अपने साधन का निर्माण कर सकता है।

3–तीसरा गुरु ग्रन्थ के रूप में मिलता है। जब मनुष्य की किसी व्यक्ति पर श्रद्धा नहीं होती, किसी के बताये हुए साधन के अनुसार वह अपना जीवन नहीं बना सकता, तब सत्–शास्त्रों को अर्थात् गीता एवं रामायण आदि सत्पुरुषों द्वारा रचे हुए ग्रन्थों को गुरु रूप में वरण कर सकता है और उनके उपदेशानुसार अपने साधन का निर्माण करके उसके अनुकूल अपना जीवन बना सकता है।

4–चौथा गुरु सत्संग है, अपने दोषों को सामने रखकर आपस में विचार–विनिमय द्वारा उन पर विचार करके साधन का निर्माण करने का नाम ही सत्संग है। इस प्रकार साधन का निर्माण करके उसके अनुसार साधक अपना जीवन बना सकता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि साधन तत्त्व ही गुरु तत्त्व है और साध्य तत्त्व ही भगवान् है। साध्य से भी साधन का महत्त्व अधिक है; जैसे धन से भी धन प्राप्ति के साधन का महत्त्व अधिक है। इसी भाव को लेकर गुरु को भगवान से भी बड़ा कहा जाता है। गुरु के शरीर का सेवन करना भी शिष्य का काम है; परन्तु गुरु की असली सेवा तो उनकी आज्ञा के अनुसार जीवन बना लेना ही है। श्रद्धा गुरु में करनी चाहिये और प्रेम भगवान में करना चाहिये। गुरु भी यही सिखलाता है।

(13)
(शरणागति का साधन, उसका स्वरूप एवं विश्वास और सम्बन्ध का महत्त्व)

प्रश्न–शरणागति की व्याख्या कीजिये।

उत्तर–शरणागति की व्याख्या नहीं हो सकती, वैसे इस विषय का एक निबन्ध लिखा गया है, वह छप भी गया है, पर अभी आया नहीं, आ जाता तो एक पुस्तक दे देते। शरणागति का कोई एक ही प्रकार नहीं होता, अधिकारी के अनुसार शरणागति में भी भेद होता है।

शरणागति की भूमि विश्वास है, जहाँ विश्वास होता है, साधक अपनी योग्यता और विश्वास के अनुरूप प्रभु की महिमा को जैसी और जितनी समझता है, उसी ढंग से वह प्रभु के शरण होता है। शरणागति तो साधक के हृदय की पुकार है, वह सीखने से नहीं आती।

जब तक मनुष्य अपने विवेक, गुण और आचरणों द्वारा अपने दोषों का नाश कर लेने की आशा रखता है, तब तक उसमें शरणागति का भाव जाग्रत् नहीं होता। जब अपने प्राप्त विवेक और बल का प्रयोग करके भी

साधक अपने दोषों को मिटाने में अपने को असमर्थ पाता है, जब उसका सब प्रकार का अभिमान गल जाता है और वह अपने को सर्वथा निर्बल समझ लेता है तथा भगवान की महिमा इस प्रकार जान लेता है कि वे सर्व शक्तिमान, सर्वगुण सम्पन्न, सर्वसुहद्, परब्रह्म परमेश्वर, पतित–पावन और दीन वत्सल हैं; हरेक प्राणी, चाहे वह कितना ही पापी, कितना ही नीच क्यों न हो, उसको अपनाने के लिये, उससे प्यार करने के लिये वे हर समय, हर जगह प्रस्तुत रहते हैं, एवं साथ ही यह सन्देह रहित विश्वास हो जाता है कि मैं जैसा भी हूँ, उनका हूँ, एकमात्र वे ही मेरे हैं; उनके अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं है; तथा जिसके हृदय में उनके प्रेम की लालसा है और जो उसकी पूर्ति से निराश भी नहीं हुआ है, उस साधक में शरणा गति का भाव जाग्रत् होता है।

मनुष्य के जीवन में जितने प्रकार के अभाव होते हैं, जिनके कारण वह दुःखी होता है, वे सब प्राप्त विवेक के अनादर से और बल के दुरुपयोग से होते हैं। जो साधक विवेक का आदर और बल का सदुपयोग करके सब प्रकार के दोषों को मिटाकर अपने चित्त को शुद्ध कर लेता है, उसे शरण लेनेकी आवश्यकता नहीं होती एवं भगवान भी, जब तक कोई अपनी पूर्ति स्वयं कर लेता है, तब तक उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। जो साधक शरण लेना चाहता है, सम्भव है, भगवान् उसे भी शरणागत होने का अवसर न दें, उसके पहले ही उसकी लालसा पूरी कर दें।

व्याख्यान उसी बात का होता है, जो की जाने वाली हो। जो अपने–आप या भगवान की कृपा से होने वाली बात है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य का यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि जिस शरीर, बुद्धि, मन आदि को मैं अपना समझता था एवं संसार के जिन व्यक्तियों को, जिस सम्पत्ति और परिस्थिति को अपना कर मैंने उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है वे कोई मेरे नहीं हैं तथा जब इस भाव से वह सब ओर से निराश हो जाता है; तब उसका उन शरणागत वत्सल, सर्व सुहृद्

भगवान की ओर लक्ष्य जाता है और उनके शरणागत होने की लालसा प्रकट होती है। यह शरणागति ही जीव का अन्तिम पुरुषार्थ है।

अतः साधक को चाहिये कि भगवान की महिमा और उनके सहज कृपालु स्वभाव की ओर देखकर अपने उत्साह में कमी न आने दे, अपने लक्ष्य की प्राप्ति से कभी निराश न हो और भगवान के शरण होकर सर्वथा उन्हीं पर निर्भर हो जाय। अपनी निर्बलता को जानकर इस भाव को सर्वथा मिटा दे कि मैं कुछ कर सकता हूँ या मुझे कुछ करना है।

जब साधक प्रभु के शरण हो जाता है, तब उसका अहंभाव मिट जाता है; क्योंकि किसी प्रकार के बल का और गुणों का अभिमान रहते हुए मनुष्य भगवान के शरण नहीं हो पाता। शरणागत साधक कभी भी भगवान से कुछ चाहता नहीं एवं यह भी नहीं समझता कि मेरा उन पर कोई अधिकार है। वह तो सब प्रकार से विश्वास पूर्वक अपने–आपको उनके समर्पण कर देता है और उन्हीं पर निर्भर रहता है।

भगवान की कृपा से, शरणागत भक्तों का संग करने से और प्राप्त विवेक का आदर करने से शरणागत–भाव प्राप्त होता है। जब साधक का कोई उपाय न चले, अपनी निर्बलता का पूरा–पूरा अनुभव हो जाय, तब उसे भगवान की शरण लेकर उनको पुकारना चाहिये। शरणागति अचूक शस्त्र है। इससे मनुष्य के समस्त दोष जलकर भस्म हो जाते हैं।

साधक का जीवन अपनी मान्यता और जानकारी से अभिन्न हो जाना चाहिये। मान्यता, जानकारी और जीवन तीनों की एकता होनी चाहिये। उनमें भेद न हो।

यदि किसी के मन में यह भाव आये कि भगवान् तो स्वभाव से ही दयालु हैं, उनकी कृपा मुझ पर क्यों नहीं हुई, तो उसे अपनी दशा का अध्ययन करना चाहिये। पहले तो उसे यह देखना चाहिये कि मैं क्या चाहता हूँ, उसके बाद यह देखना चाहिये कि मैं उसकी पूर्ति के लिये क्या कर सकता हूँ, फिर यह कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उससे मेरी आवश्यकता पूरी हो रही है या नहीं, अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये मुझमें व्याकुलता है

या नहीं, उसके लिये मैं संसारके प्यारे–से–प्यारे काम को और पदार्थों को छोड़ सकता हूँ या नहीं।

इस प्रकार अपनी दशा का अध्ययन करने पर यदि मालूम हो कि मैं संसार की किसी अनित्य वस्तु को चाहता हूँ तो प्राप्त विवेक के द्वारा उसके परिणाम पर विचार करके उस चाह को मिटा देना चाहिये। यदि यह मालूम हो कि मैं स्वयं कुछ कर सकता हूँ तो यह देखकर कि अब तक मैंने जो कुछ किया है उससे मेरी आवश्यकता पूर्ण क्यों नहीं हुई। इस प्रकार अपनी निर्बलता का अनुभव करके उस अभिमान का त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि अभिमान के रहते हुए भगवान की कृपा प्रकट नहीं होती। अपने बल का अभिमान छोड़कर जब साधक यह दृढ़ विश्वास कर लेता है कि मुझ पर भगवान की कृपा अवश्य होगी, मैं उनका कृपा पात्र हूँ। जब साधक का यह विश्वास विकल्प रहित सुदृढ़ हो जाता है, उसी समय उस पर भगवान की कृपा अवश्य प्रकट हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

जब भगवान की असीम कृपा से शरणागति का भाव उदय हो जाता है, उसके बाद साधक को कभी असफलता का दर्शन नहीं होता।

मनुष्य को विचार करना चाहिये कि मुझे सबसे अधिक प्रिय क्या ? यदि उसे यह मालूम हो कि मेरा प्यार बहुत जगह बँटा हुआ है तो उसे समझना चाहिये कि अनेक जगह प्यार बँटा रहते हुए शरणागति का भाव उत्पन्न नहीं होता। अतः साधक को चाहिये कि जिन अनित्य वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़कर वह उनसे प्यार करता है, उनसे प्रियता उठाकर एकत्र करे। एकमात्र उसी को अपना प्रिय समझे कि जिसके बिना वह किसी प्रकार भी चैन से नहीं रह सके। ऐसा प्रिय एक प्रभु ही हो सकता है।

विचार करने पर मालूम हो सकता है कि संसार की समस्त वस्तुओं के बिना हम चैनसे रह सकते और रहते हैं। प्रत्युत, उनका वियोग अनिवार्य है; क्योंकि जो विनाश शील पदार्थ हैं उनसे मनुष्य का नित्य सम्बन्ध कैसे रह सकता है, अतः उनसे प्यार करके अपने नित्य सम्बन्धी प्रभु से दूरी मान लेना कितनी बड़ी भूल है। साधक को चाहिये कि भली प्रकार विचार करके

अनित्य पदार्थों से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ दे और अपने प्रभु पर विश्वास करके उनसे सम्बन्ध जोड़ ले। जिस पर विश्वास होता है उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध होता है, उसी का चिन्तन होता है और जिसका चिन्तन होता है उसीमें प्रेम होता है।

भगवान पर विश्वास और प्रेम स्वाभाविक होना चाहिये, किसी प्रकार का जोर डालकर नहीं; क्योंकि प्रयत्न साध्य वस्तु स्थायी नहीं होती। अपने जीवन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये कि मेरा भगवान पर सहज विश्वास और प्रेम क्यों नहीं होता? यदि यह मालूम हो कि भगवान को मैंने कभी देखा नहीं, इस कारण विश्वास नहीं होता तो सोचना चाहिये वे हमें क्यों नहीं दीखते? तब मालूम होगा कि हम अनेक सीमित वस्तुओं को देखते हैं और उन्हीं के साथ–साथ भगवान को भी देखना चाहते हैं; इसीलिये भगवान् नहीं दीखते; क्योंकि वे असीम हैं, अतः सीमित चीजों के साथ सीमित दृष्टि से कैसे दिखलायी दें।

इसके सिवा यह बात है भी नहीं कि भगवान् दीखते नहीं, कारण उन पर विश्वास नहीं होता; क्योंकि दीखने वाली सब वस्तुओं पर भी तो विश्वास नहीं होता।

कामना–पूर्ति की इच्छा वास्तविक आवश्यकता का ज्ञान नहीं होने देती। वही विश्वास में बाधक है। उसकी उत्पत्ति देह में अहंभाव से होती है। अपनी आवश्यकता क्या है? इस पर विचार करने पर साधारण दृष्टि से मालूम होता है कि धन ही सबसे अधिक जरूरी है। आगे बढ़ने पर मालूम होगा कि धन की अपेक्षा वस्तु अधिक आवश्यक है। उससे बढ़कर अपने सम्बन्धित व्यक्ति और उससे भी अधिक आवश्यक अपना शरीर मालूम होता है।

धन की आवश्यकता लोभ के कारण मालूम होती है। चित्त की अशुद्धि से लोभ उत्पन्न होता है। वस्तुओं की आवश्यकता भोग कामना से होती है। अपने माने जाने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता मोह से मालूम होती है। लोभ, काम और मोह–ये सभी चित्त की अशुद्धि से होते हैं और चित्त को

अशुद्ध करते रहते हैं तथा इनके कारण मनुष्य को कभी शान्ति नहीं मिलती। बारम्बार अभाव का दुःख भोगना पड़ता है; क्योंकि सभी अनित्य हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि संसार वास्तव में हमारी आवश्यक वस्तु नहीं है। चित्त के दोष से ही उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। वास्तव में वे इच्छाएँ हैं; क्योंकि आवश्यकता अनेक नहीं हुआ करती। इच्छा की निवृत्ति होती है और आवश्यकता की पूर्ति होती है। इच्छाओं की निवृत्ति से ही आवश्यकता की पूर्ति हुआ करती है।

अतः साधक को कभी इच्छाओं के जालमें नहीं फँसना चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि शरीर का नाश होने पर भी मेरा नाश नहीं होता, संसार के सभी व्यक्तियों और पदार्थों के बिना मैं रह सकता हूँ। शरीर में न जीवन है और न पूर्णता है। आवश्यकता उसी की है जिससे मेरा नित्य सम्बन्ध है। जो पूर्ण जीवन है, जिसका कभी अभाव नहीं होता। सब प्रकार से पूर्ण तो एक प्रभु ही हैं। उनके बिना इच्छाओं की पूर्ति में लगे रहकर मैं अनेक जन्मों से अनेक योनियों में भटकता रहा, आज तक उनकी पूर्ति या निवृत्ति नहीं हुई। अब भी यदि मैं उन इच्छाओं के जाल में फँसा रहूँगा तो मुझे प्रभु की कृपा का कैसे अनुभव होगा।

इस प्रकार अपनी दशा का अध्ययन करने से मनुष्य को वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाता है और वह अपनी वास्तविक आवश्यकता से परिचित हो जाता है। उसके होने पर वह ईश्वर से भी शीघ्र ही परिचित हो जाता है।

जब तक साधक की ईश्वर में सर्वोत्कृष्ट बुद्धि नहीं होती, तब तक वह ईश्वर के शरणागत नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि सब ओर से बुद्धि और मन को हटा ले, एकमात्र ईश्वर में ही दोनों को लगा दे। भगवान पर विश्वास न होने के जितने भी कारण हैं उनको खोज–खोज कर मिटा दे तथा अपने प्रभु पर अचल और विकल्प रहित विश्वास करे। ईश्वर के अतिरिक्त किसी में भी न तो विश्वास करे, न किसी को अपना माने, न किसी से प्यार करे और न

किसी का चिन्तन करे; क्योंकि अन्य सभी अनित्य हैं। कोई भी प्रेमी नहीं है। प्रेमी वही है जो कभी कुछ ले नहीं।

इस प्रकार जब साधक का सब पर से विश्वास उठकर एवं सबसे सम्बन्ध टूटकर एकमात्र अपने प्रभु में ही विश्वास और सम्बन्ध की दृढ़ता हो जाती है, तब उसका उनमें स्वतः ही प्रेम जाग्रत् हो जाता है। प्रेम होने के बाद चिन्तन और स्मरण करना नहीं पड़ता। अपने–आप होता है। ऐसा होते ही साधक एकमात्र भगवान के शरण हो जाता है। अपने–आपको उनके समर्पण करके उन्हीं पर निर्भर हो जाता है।

(14)
(भगवान के अवतार का हेतु और उनकी लीला का रहस्य)

प्रश्न–भगवान को अवतार क्यों लेना पड़ा?

उत्तर– भगवान को अवतार लेना पड़े ऐसी बात भगवान्में नहीं होती; क्योंकि भगवान् सर्वथा पूर्ण, सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र हैं।

भगवदवतार के शास्त्रों में तीन हेतु बतलाये जाते हैं–(1) साधुओं का परित्राण, (2) दुष्टों का विनाश और (3) धर्म की स्थापना। इनमें से दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना तो भगवान् बिना अवतार लिये भी कर सकते हैं। यदि वे दोनों भगवान के अवतार खास कारण होते तो इस समय भी भगवान का अवतार होना चाहिये था। धर्म का हर इस समय कम नहीं है और दुष्टों की भी कमी नहीं है। परंतु उनकी लीला पर विचार करने से मालूम होता है कि भगवान का अवतार अपनी रसमयी लीला के द्वारा भक्तों को रस प्रदान करने के लिये और स्वयं उनके प्रेम का रस लेने के लिये ही होता है। धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश तो उसका आनुषंगिक कार्य है। उसमें भी प्रकारान्तर से साधुओं का हित भरा रहता है।

साधु पुरुष वही है, जो भगवान को प्राप्त करना चाहता है, अपने जीवन को भगवत्परायण बनाने की साधना में लगा रहता प्रकार का भेष बना लेने का नाम साधु नहीं है।

भगवान् जब अवतार लेते हैं, साधु पुठों के घरों में ही लेते हैं। भगवान् श्री कृष्ण के अवतार पर ही विचार कीजिये। उनका प्राकट्य वसुदेव जी के घर में और माता देवकी के उदर से हुआ। जो स्वयं प्रकाश और सर्वत्र बसने वाला है उसे 'वसुदेव' कहते हैं और प्रकाशमयी ब्रह्म विद्या का नाम देवकी है। इससे मालूम होता है कि भगवान् उन साधु–पुरुष कि घर जन्म लेते हैं जो सर्वथा विशुद्ध और तनाती हैं, परन्तु उसको अपनी लीला का–अपने प्रेम का रस प्रदान नहीं करते। अपनी प्रेम मयी लीला का रस प्रदान करने के लिये आप माता यशोदा की गोद में पधारते हैं। जो यश यानी प्रेम–रस का प्रदान करे उसको 'यशोदा कहते हैं और आनन्द का ही दूसरा नाम 'नन्द' है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् अपने प्रेमी भलों को अपनी प्रेम मयी लीला का रस प्रदान करके और उनके प्रेम रस का स्वयं आस्वादन करके उन भक्तोंको आह्लादित करते हैं। यह काम बिना अवतार लिये पूरा नहीं हो सकता।

भगवान की एक–एक लीला में अनेक रहस्य भरे रहते हैं। वे एक ही लीला में बहुतों की लालसा पूरी करते रहते हैं। उनकी प्रेम मयी लीला का रहस्य बड़े–बड़े बुद्धिमान् नहीं समझ पाते। औरों की तो कौन कहे, साक्षात् ब्रह्मा जी को सन्देह हो गया।

भगवान् अघासुर को मुक्त करके वन–भोजन करने के लिये अपने बाल सखाओं के बीच में बैठकर भोजन करने लगे तो उस लीला को देखकर ब्रह्माजी चकित हो गये। वे सोचने लगे कि 'साक्षात् परमेश्वर क्या कभी इन गँवार ग्वालों के बालकों की गूंठ खा सकते हैं? यह क्या है? एक बालक अपनी वस्तु दूसरे को देता है, अपने–अपने घर से लाई हुई वस्तु आपस में ले–लेकर खा रहे हैं, इस मोह में पड़कर उन्होंने भगवान की परीक्षा करने के लिये बछड़ों को उठाया। इधर बालकों का मन भगवान से

हटकर बछड़ों की ओर गया। वे बोले, 'घासके लोभसे बछड़े दूर चले गये हैं, दिखलायी नहीं देते।' भगवान् यह कैसे सहन कर सकते हैं कि उनका प्रेमी किसी और को देखे, उनको छोड़कर उसका मन दूसरी जगह चला जाय। अतः उन्होंने सखाओं से कहा– 'मित्रो' तुम लोग यहीं रहो, मैं अभी बछड़ों को ले आता हूँ।' श्यामसुन्दर उधर गये कि ब्रह्मा जी ने उन बालकों को बेहोश करके वहाँ से उठाया और पर्वत की गुफा में रख आये। भगवान से मन हटते ही ग्वाल बालों को एक वर्ष उनसे अलग होना पड़ा। इधर गायें तथा गोप–गोपियों के मन में यह लालसा बढ़ रही थी कि कभी वे दिन आयेंगे कि श्यामसुन्दर यशोदा मैया की भाँति हमारे स्तनों का दूध पान करेंगे, उसी प्रकार हमारी गोद में खेलकर अपनी प्रेम मयी बाल–लीला का रस प्रदान करेंगे। उनकी उस लालसा को पूर्ण करने के लिये भगवान् स्वयं बालक एवं बछड़े बने और गायों को प्रेम–रस प्रदान किया तथा उनका प्रेम–रस दुग्ध के रूप में पान किया। गोप और गोपियों की गोद में खेलकर उनको पुत्र–स्नेह का रस प्रदान किया। एक वर्ष तक वे उस मधुर प्रेम–रस का आस्वादन करते रहे। उसके बाद जब ब्रह्माजी ने देखा कि व्रज का काम तो उसी प्रकार चल रहा है, श्यामसुन्दर तो पहले की भाँति ही उन ग्वालबालों के साथ भोजन कर रहे हैं और खेल कर रहे हैं तथा जिनको मैं चुरा लाया था वे सब गुफा में सो रहे हैं, तब विचार करते ही उनको भगवान की अचिन्त्य महिमा का कुछ दर्शन हुआ एवं उनका समस्त अभिमान गल गया। भगवान के चरणों में मस्तक रखकर उन्होंने क्षमा माँगी और भगवान की स्तुति कीय परंतु भगवान् उनसे बोले तक नहीं। एक ही लीला में भगवान ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्य का प्रदर्शन किया। यह काम बिना अवतार के कैसे हो सकता था। एक ओर ब्रह्मा के अभिमान का नाश, उसी के साथ–साथ ग्वाल–बालों को चेतावनी और गायों की एवं गोप–गोपियों की प्रेम–लालसा की पूर्ति। यह काम तो अवतार लेकर ही किया जा सकता है।

इसके पहले जब भगवान् श्यामसुन्दर छः दिन के हुए थे, उस समय भी उन्होंने एक ही साथ ऐश्वर्य और माधुर्य तथा न्याय और दयालुता का भाव दिखाया था। पूतना, जो घोर पापिनी और बालकों का नाश करने वाली थी, जब सुन्दर धाय का कपट वेष बनाकर भगवान के पास गयी एवं मन में दूषित भाव रखकर ऊपर से प्रेम का भाव दिखा कर उनको गोद में उठा लिया और अपना स्तन श्यामसुन्दर के मुखारविन्द में दे दिया, तब भगवान ने उसके मातृस्नेह की रक्षा करने के लिये तो उसका दूध पिया और वह उनके प्राण लेने के लिये आयी थी, इसलिये दूध के साथ–साथ उसके प्राण भी पी गये। भगवान के स्पर्श से उसका कपट नाश हो गया। वह अपने असली रूपमें आ गयी। सारे शरीर में सुगन्ध हो गये। भगवान् उस के शरीर पर खेलने लगे और उसे माता की गति प्रदान की। इस प्रकार की लीला भगवान् बिना अवतार के कैसे कर सकते थे।

इसी प्रकार उनकी हरेक लीला में अनन्त रस और अनन्त रहस्य भरा हुआ है। उनके प्रेमी भक्त ही उसका रस ले सकते हैं।

भगवान का अवतार नित्य है। उनका लीलाधाम, उनके माता–पिता, उनके सखा और सखियाँ सब चिन्मय प्रेम से ही बने हुए थे। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं थी। भगवान के प्रेमी भक्तों में भौतिक भाव नहीं रहता।

भगवान के प्रेमी भक्तों का आज भी उनकी दिव्य लीला में प्रवेश होता है और वे उनके प्रेम–रस का आस्वादन करते रहते हैं। यदि भगवान का अवतार नहीं होता तो इसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी। जिनको यह विश्वास नहीं है कि भगवान् अवतार लेते हैं उनसे मेरा कोई आग्रह नहीं है कि वे अवतारवाद को जबर्दस्ती मानें तथा उनके न मानने का कोई आश्चर्य भी नहीं है; क्योंकि अपनी मान्यता के लिये सभी स्वतन्त्र हैं।

(15)
(साधन में सफलता न मिलने का कारण और निष्कामता की आवश्यकता, संकल्पों के नाशका उपाय)

प्रश्न–साधन में सफलता क्यों नहीं मिलती?

उत्तर–आजकल लोग साधन तो करते नहीं और साधन का फल लेना चाहते हैं, तब उनको सफलता कैसे मिले? हरेक मनुष्य सोचता है कि साधन करके योग्यता तो कोई दूसरा प्राप्त कर ले और हमें आशीर्वाद दे दे ताकि हमें उसका सुख मिल जाय। जैसे गाछ तो कोई दूसरा लगा ले और उसके फल वह खाना चाहे, जिसने गाछ लगाते समय कुछ नहीं किया, तो ऐसा होता नहीं। साधन की सफलता के लिये साधक को स्वयं साधन करना पड़ेगा। उसे साधन को ही अपना जीवन मानना पड़ेगा। ऐसा करने से ही वह कृत कार्य हो सकता है।

जो मनुष्य सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होना चाहता हो, उसे विचार करना चाहिये कि बन्धन क्या है। विचार करने पर मालूम होगा कि भोगों की वासना, उनको प्राप्त करने का संकल्प, उनका सम्बन्ध और चिन्तन–ये सब कहीं बाहर से नहीं आये हैं। अपने ही प्रमाद से, अपनी ही असावधानी से अपने अन्दर उत्पन्न हो गये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि बन्धन मनुष्य का अपना ही बनाया हुआ अपने अन्दर है। अतः उससे मुक्त भी वह स्वयं ही हो सकता है।

बन्धन को काटने के लिये अर्थात् उनसे मुक्त होने के लिये साधक को चाहिये कि सब प्रकार के भोगों की चाह का त्याग कर दे तथा उनके सम्बन्ध और चिन्तन से रहित हो जाय।

शरीर को मैं मानने से और उससे सम्बन्ध रखने वालों को अपना मानने से चाह की उत्पत्ति होती है; क्योंकि जिन–जिनसे मनुष्य अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उनमें आसक्ति हो जाती है। कारण ही भोग

उसे सुखप्रद प्रतीत होने लगते हैं तथा अपने को शरीर मान कर ही मनुष्य उनके उपभोग में प्रवृत्त होता है। वास्तव में तो भोगों का परिणाम रोग है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि सब प्रकार के बन्धनों का कारण एकमात्र अपने को शरीर मान लेना है। अतः साधक को चाहिये कि अपने को देह से सर्वथा भिन्न समझकर सब प्रकार की भोग वासना का परित्याग कर दे।

भोग वासना का अर्थात् सब प्रकार की चाह का परित्याग करने के लिये संकल्पों को मिटा देना आवश्यक है। अतः साधक को चाहिये कि जो आवश्यक संकल्प हों उनको पूरा करके मिटा दे और जो अनावश्यक हों उनका त्याग करके मिटा दे। संकल्प रहित होने पर साधक में शक्ति आती है एवं चित्त शुद्ध और स्थिर होने लगता है। तब वह चाह रहित हो सकता है। चाह रहित होने पर ही शान्ति मिलती है।

नाना प्रकार के संकल्प और भोगों की इच्छा ने ही मनुष्य में अभाव की उत्पत्ति करके उसे दुःखी कर दिया है। भोगों के वास्तविक स्वरूप को जानकर, संकल्पों की उत्पत्ति के कारण को मिटाने की कोशिश करने पर और बार–बार उनका निरीक्षण करके त्याग करते रहने पर संकल्पों की उत्पत्ति रुक सकती है। इसलिये साधक को निराश नहीं होना चाहिये। साधक को चाहिये कि संकल्प के निवृत्ति काल में जो उसे रस मिलता है उसका अनुभव करे। संकल्प उत्पन्न होकर पूरा हो जाय और दूसरा संकल्प उत्पन्न न हो, उसके बीच में ध्यान पूर्वक अध्ययन करने पर संकल्प निवृत्ति के रस का अनुभव हो सकता है।

चेष्टा करने पर भी संकल्प नहीं रुकते। इसका कारण यह है कि संकल्पों की उत्पत्ति का दुःख नहीं है और उनकी पूर्ति में सुख मालूम होता है। अतः साधक को चाहिये कि संकल्पों का परिणाम दुःख है, यह समझकर उनकी निवृत्ति न होने तक उनके दुःख से व्याकुल हो जाय और उनकी पूर्ति के सुख का रस न ले। जिनको वर्तमान स्थिति में सन्तोष नहीं होता, गहरा दुःख होता है, उनका ही परिवर्तन होता है।

विचार करने पर साधक को मालूम होगा कि एक–एक चाह को पूरी करने के लिये अनेक संकल्प उत्पन्न होते हैं और एक–एक संकल्प की पूर्ति के लिये अनेक इच्छाएँ होती हैं एवं चाह और संकल्प मनुष्य को पराधीन बना देते हैं। इस रहस्य को न समझने के कारण ही मनुष्य को संकल्पों की उत्पत्ति का दुःख नहीं होता और उनको मिटाने के लिये तत्परता पूर्वक साधन नहीं होता।

संकल्पों का अन्त होने से चाह की निवृत्ति होगी। चाह की निवृत्ति ही चित्त की शुद्धि है। चित्त शुद्ध होते ही साधक को बोध प्राप्त हो जाता है। उससे सब प्रकार के दुःखों का नाश हो जाता है और उसके बाद जो भक्ति उत्पन्न होती है उससे अनन्त रस मिलता है। अतः साधक को संकल्पों को समूल नाश करने के लिये सदा साधन में तत्पर हो जाना चाहिये।

(16)
(गोपीभाव का रहस्य और उसके लिये सत्संग की आवश्यकता)

प्रश्न–गोपियों के प्रेम की बात कहिये।

उत्तर–गोपी–प्रेम की बात वही कह सकता है जिसको गोपी भाव प्राप्त हो गया हो। सुनने का अधिकारी भी वही है। जब तक स्थूल, सूक्ष्म या कारण–किसी भी शरीर में अहंभाव है, तब तक मनुष्य को गोपी भाव प्राप्त नहीं होता; अतः वह गोपी प्रेम का अधिकारी नहीं है।

उद्धव–जैसे ज्ञानी और योगी, जो भगवान् श्री कृष्ण के सखा थे, जब व्रज में गये, तब गोपियों के प्रेम को देखकर ज्ञान और योग को भूल गये। उलटा अपने स्वामी और सखा श्री कृष्ण को हृदय हीन और कठोर बताने लगे और उन गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करने लगे। यहाँ तक कि व्रज के लता–पत्ता बनने में भी अपना सौभाग्य मानकर गोपियों की चरण–रज की कामना करने लगे। उन गोपियों के प्रेम को भला कोई साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है।

जब तक मनुष्य के शरीर में अभिमान रहता है, तब तक उसको किसी–न–किसी प्रकार के संयोग जनित सुख का लालच रहता है। गोपी भाव प्राप्त करने के लिये वस्तु के संयोग और क्रियाजन्य सुख की तो कौन कहे, चिन्तन तक के सुख का भी त्याग करना पड़ता है। जब तक यह भाव रहता है–अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थिति से सुख मिलेगा, तब तक मनुष्य उनका दास बना रहता है। उसके मन में दूसरों को सुख पहुँचाने का भाव उत्पन्न नहीं होता। अपने सुख–भोग की रुचि रहती है। यही स्वार्थ भाव है। स्वार्थ भाव के रहते हुए गोपी भाव की बात समझ में नहीं आ सकती।

मानव–जीवन में सत् और असत् दोनों का संग रहता है। शरीर, संसार और भोगों का संग ही असत्का संग है और अनन्त जीवन तथा नित्य आनन्द की लालसा ही सत्का संग है। जिसमें केवल असत्का संग है वह भी मनुष्य नहीं है; क्योंकि असत्का संग तो पशु–पक्षी आदि तिर्यक् योनियों में भी होता है एवं जिसमें केवल सत्का संग है उसे भी मनुष्य नहीं कहा जा सकता। वह मनुष्य भाव से अतीत है। अतः गोपी भाव प्राप्त करने के लिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले समस्त भोगों का संग विवेक द्वारा छोड़ना पड़ता है। उसका त्याग सत्संग से ही हो सकता है।

सांसारिक सुख भोग में क्या–क्या दुःख है, इसकी असलियत का ज्ञान सुख भोग से उन साधकों को होता है, जो अपने प्राप्त विवेक का आदर करते हैं। विवेक का आदर ही सत्संग है। इस सत्संग से सुख भोग की रुचि मिट जाती है और भगवान के नित्य–नव प्रेम की लालसा उत्पन्न हो जाती है। तब किसी–किसी अधिकारी को गोपी–भाव की प्राप्ति होती है।

देह से असंग होने पर ही मनुष्य भोग वासना से रहित हो सकता है। दोषों का त्याग ही गुणों का संग है। भोगों की चाह रहते हुए गुणों का उदय और दोषों का अभाव नहीं होता। अतः यह समझना चाहिये कि

सब–प्रकार की चाह का अन्त होने पर ही सत्का संग अर्थात् भगवत प्रेम की लालसा उत्पन्न होती है।

अतः जिस साधक को गोपी भाव प्राप्त करना हो और उनकी लीला में प्रवेश करके गोपी–प्रेम की बात समझनी हो, उसे चाहिये कि देह भाव से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण भोगों की वासना का त्याग कर देय क्योंकि जब तक देहभाव रहता है मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ–ऐसा भाव होता है, तब तक गोपी–चरित्र सुनने और समझने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। फिर गोपी–प्रेम क्या है–यह तो कोई समझ ही कैसे सकता है।

जब भगवान् श्यामसुन्दर के प्रेम की लालसा समस्त भोग–वासनाओं को खाकर सबल हो जाती है, तब तो साधक व्रज में प्रवेश होता है। उसके पहले तो व्रज में प्रवेश ही नहीं होता। यह उस व्रज की बात नहीं है जहाँ लोग टिकट लेकर जाते हैं। यह तो उस व्रज की बात है जो प्रकृति का कार्य नहीं है, जहाँ की कोई भी वस्तु भौतिक नहीं है, जिसका निर्माण दिव्य प्रेम की धातु से हुआ है। जहाँ की भूमि, ग्वाल–बाल, गोपियाँ, गायें और लता–पत्ता आदि सब–के–सब चिन्मय हैं। जहाँ जडता और भौतिक भाव की गन्ध भी नहीं है, उस व्रज में प्रवेश हो जाने के बाद भी गोपी भाव की प्राप्ति बहुत दूर की बात है। दास भाव, सख्य भाव और वात्सल्य भाव के बाद कहीं गोपी भाव की उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गोपी–प्रेम की बात कैसे समझ सकते हैं और कैसे कह सकते हैं।

जब तक देहभाव रहता है, तभी तक भोग वासना और अनेक प्रकार के दोष रहते हैं और तभी तक दोषों का नाश करके चित्त शुद्धि के लिये साधन करना रहता है। चित्त का सर्वथा शुद्ध हो जाना और सब प्रकार से असत्का संग छूट जाना ही व्रज में प्रवेश है।

अतः जिस साधक को गोपी–प्रेम प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि पहले मुक्ति के आनन्द तक का लालच छोड़कर व्रज में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करे और उसके बाद भगवान की कृपा पर निर्भर होकर गोपी भाव को प्राप्त करे।

(17)

(मनुष्य के विकास का उपाय तथा चरित्रबल, विवेकबल और विश्वासबल इन तीनों की आवश्यकता, उनका महत्त्व और उनकी प्राप्ति का उपाय)

प्रश्न–मनुष्य का विकास कैसे हो?

उत्तर–मनुष्य को अपने विकास के लिये कुछ–न–कुछ श्रम करते रहना चाहिये। श्रम से जीवन में संयम आता है और बेकार रहने से विलासिता बढ़ती है।

दुःखी मनुष्य को निश्चय करना चाहिये कि जिस भूल के कारण यह दुःख प्राप्त हुआ है उसे नहीं दुहराऊँगा तथा उस प्राप्त दुःख का सदुपयोग करे अर्थात् देहाभिमान और संसार के सम्बन्ध को दुःख प्रद समझकर उससे असंग हो जाय।

जो मनुष्य प्राप्त अनुकूल परिस्थिति का दुरुपयोग करता है उसके जीवन में प्रतिकूल परिस्थिति अवश्य आ जाती है। अतः साधक को उसका सदुपयोग करना चाहिये।

साधक को विश्वास रखना चाहिये कि जीवन स्वयं अपनी रक्षा करता है। यदि जीवन शेष है तो जीवन के साधन स्वयं प्राप्त हो जायँगे। परिस्थिति का परिवर्तन होना अनिवार्य है। सदैव एक–सी परिस्थिति नहीं रह सकती। अतः साधक को चाहिये कि जो परिस्थिति सामने है, उसमें मुझे क्या करना है, इस पर विचार करे।

हरेक मनुष्य के जीवन में चरित्र बल और सुख–इन दोनों का संघर्ष रहता है। जो सुखभोग चाहता है, उसी को आदर देता है, वह चरित्र की रक्षा नहीं कर सकता। अतः साधक को चाहिये कि वह चरित्र को आदर दे। भारी–से–भारी कठिनाई से न डरे। उसका सामना करके अपने चरित्र की रक्षा करे। ऐसा करने से साधक कठिनाई से पार हो सकता है। अतः साधक को चाहिये कि धैर्य रखे। कठिनाइयों से भयभीत न हो। कठिनाई से ही उन्नति का मार्ग खुलता है।

चरित्रवान् मनुष्य के कर्म दूसरों के लिये विधान बन जाते हैं अर्थात् आदर्श बन जाते हैं। आचरण में इस प्रकार के सद्भाव को ही चरित्र बल कहते हैं।

चरित्रबल, विवेकबल और विश्वासबल–इन तीनों की जीवन में एकता होन पर अर्थात् जैसा विवेक हो वैसा ही दृढ़ विश्वास हो और उन दोनों के अनुरूप आचरण हो, तब साधक को वास्तविक सफलता मिलती है।

संसार और शरीर की अनित्यता को समझकर यह निश्चय कर लेना कि शरीर मैं नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है, इसका नाम विवेक है। जहाँ विवेक बल होगा वहाँ निर्वासना अवश्य आ जायगी। वासना के जाल में फँसा हुआ प्राणी ही करने योग्य और न करने योग्य सब प्रकार के आचरण कर लेता है। परन्तु जहाँ निर्वासना आ जाती है वहाँ चरित्रबल अपने–आप सुरक्षित रहता है। विवेक शील मनुष्य को किसी प्रकारका भय या प्रलोभन अपने कर्तव्य से नहीं डिगा सकता। अतः साधक को चाहिये कि कठिनाई से घबराये नहीं, भयभीत न हो, किन्तु विवेक बल से काम ले और धैर्य पूर्वक कर्तव्य का पालन करे।

संसार सुख और दुःख से मिला हुआ है। न तो कोई पूर्ण सुखी है न पूर्ण दुःखी ही है; क्योंकि जो सचमुच पूर्ण दुःखी हो जाता है उसके दुःख को दुःख हारी भगवान् खा जाते हैं और पूर्ण सुखी वह है जो संसार से अतीत है। संसार को अनित्य कहने वाले मनुष्य भी प्राप्ति–काल में सुख का उपभोग करते रहते हैं और दुःख की प्राप्ति में सुख के पीछे दौड़ते हैं। उन सुखलोलुप मनुष्यों को सुख–दुःख की वास्तविकता का अनुभव नहीं होता। अतः साधक को चाहिये कि जिसको वह अनित्य समझता है उससे विमुख होकर नित्य के सम्मुख हो जाय एवं प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करे, दुरुपयोग न करे।

जब मनुष्य सचमुच संसार से निराश हो जाता है, उसे संसार से किसी प्रकार के सुख की आशा नहीं रहती, तब उसका संसार से वैराग्य हो जाता है। सुख की लालसा में फँसे हुए प्राणी के जीवन में वैराग्य उदय

नहीं होता। अतः साधक को अपने मन में ऐसी भावना करनी चाहिये कि 'हे सुख ! अब मैं कभी तुम्हारे पीछे नहीं दौड़ेंगा। तुमने मेरी बहुत दुर्दशा की है। अब मैं तुम्हारी आशा नहीं करूंगा।' जब तक मनुष्य संसार से कुछ लेना चाहता है, उसका दास बना रहता है, तब तक उसके दुःख नहीं मिट सकते। करोड़पति और बड़े–से–बड़े सम्राट हो जाने पर भी दुःखों का अन्त नहीं होता। अतः साधक को चाहिये कि संसार की चाह को मिटाकर चरित्रबल, विवेकबल और विश्वासबल को दृढ़ करे। चरित्र, विवेक और विश्वास का बल दुःख को मिटा देता है।

भारी–से–भारी कठिनाई सहन करके चरित्र को शुद्ध रखने से चरित्रबल बढ़ता है। चरित्रबल में ही तप का निवास है। इससे उत्तरोत्तर सहनशक्ति बढ़ती है। विवेकबल से त्याग की शक्ति बढ़ती है और विश्वास से समर्पण भाव का उदय होता है। साधक में ये अवश्य हों। इन तीनों का होना ही जीवन है। इनके बदले में सब प्रकार के सुखों का त्याग किया जा सकता है। संसार की बड़ी–से–बड़ी कोई भी वस्तु या कोई भी अधिकार ऐसा नहीं है जो इनके बदले में नहीं दिया जा सकता हो। अधिक क्या, शरीर तक को देकर भी इनका पालन करना चाहिये।

चरित्रबल से विवेकबल का महत्त्व अधिक है। विवेकबल से भी विश्वासबल का महत्त्व अधिक है; क्योंकि बिना विश्वास के विवेक विकल्परहित नहीं हो पाता और चरित्र में दृढ़ता नहीं आती। विश्वास दोनों को सुरक्षित रखता है।

साधक को चाहिये कि मन की कामना पूर्ति के लिये विश्वास, विवेक और चरित्र बल का प्रयोग न करे। इनकी अमूल्य शक्ति का अनित्य वस्तुओं के लिये व्यय न करे। ईमानदारी और परिश्रम को कभी न छोड़े। सांसारिक वस्तु और व्यक्तियों का संयोग और वियोग तो होता ही रहेगा। उसका कोई महत्त्व नहीं है।

संसार की चाह रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता और बिना चित्त की निर्मलता के दुःख नहीं मिट सकता। अतः सुख भोग की इच्छा का त्याग

अनिवार्य है। परन्तु साधारण मनुष्यों को इसका त्याग मृत्यु के तुल्य प्रतीत होता है।

धर्म के विश्वास से ही चरित्रबल सुरक्षित रहता है, उसके बिना वह नहीं रह सकता। संसार की असलियत को समझ लेने पर विवेकबल की प्राप्ति होती है, किन्तु धर्म और विवेक भी ईश्वर–विश्वास से ही पुष्ट होते हैं और सुरक्षित रह सकते हैं। हरेक परिस्थिति में ईश्वर विश्वास ही काम करता है। उसी के बल पर मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

सांसारिक व्यक्तियों का विश्वास बड़ा भयानक सिद्ध हुआ है। इन पर विश्वास करके मनुष्य बहुत धोखे में आ जाता है। अधिक क्या, साधक को तो अपने शरीर, मन और बुद्धि पर भी विश्वास नहीं करना चाहिये। विश्वास के योग्य तो एकमात्र ईश्वर ही है।

व्यक्तियों पर विश्वास न करने का यह मतलब नहीं है कि साधक उनके दोषों को देखे या उनको बुरा समझे, ऐसा कहीं नहीं होना चाहिये। किसी को भी बुरा नहीं समझना चाहिये, परन्तु किसी कर्तव्य के लिये उन पर निर्भर नहीं रहना चाहिये।

जब तक मनुष्य संसार पर विश्वास करता है, उसको अपना मानता रहता है, तब तक वह खतरे से खाली नहीं है। संसार की सब चीजें धोखा देती हैं। शरीर, बुद्धि, धन और कुटुम्बी आदि जो कुछ मिला है, वह अवश्य छूट जायगा। अतः कामना पूर्ति के लिये ईश्वर विश्वास का उपयोग करना भूल है।

ईश्वर विश्वास तो साधक का जीवन होना चाहिये। उसके बिना और कोई भी अपना नहीं है। और किसी से साधक का काम नहीं चलेगा। ईश्वर विश्वास पूर्वक भोग–वासना के त्याग से ही दुःख दूर होता है। अतः भगवान पर निर्भर होकर साधक को चरित्रबल की रक्षा के लिये बड़े–से–बड़े दुःख को उत्साह पूर्वक सहन कर लेना चाहिये।

प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति और अप्राप्त का चिन्तन–यही सुख की लोलुपता और दरिद्रता अर्थात् अभाव है। इसके रहते हुए दुःख नहीं मिट

सकता। दुःख मिटाने के लिये निर्लोभी, निर्मोही और अभिमान रहित होना आवश्यक है, जो ईश्वर पर निर्भर होने से ही सहज है।

दुःख मनुष्य को दुःखहारी से मिलाने के लिये आता है। अतः वह जब तक दुःखहारी से मिला नहीं देता, तब तक जाता नहीं। सुख की लोलुपता का नाम दुःख नहीं है। यह तो होते और मिटते रहने वाला है। असली दुःख तो भगवान की कृपा का फल है, जो उनसे मिलाकर ही छोड़ता है।

साधक को कामना पूर्ति की आशा छोड़कर ईश्वर पर निर्भर होना चाहिये। कामना का नाश करने के लिये ईश्वर का खूब भजन करना चाहिये। ईश्वर–विश्वास के बिना विवेकबल और चरित्रबल कुछ नहीं टिक सकता। अतः साधक को दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि ईश्वर मुझे जिस स्थिति में रखेगा, उसी में मैं प्रसन्न रहूँगा। उसकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है।

सुख का सदुपयोग करने वाले को कभी दुःख नहीं मिलता। सुख का सदुपयोग करने वाले को आनन्द अवश्य मिल जाता है। कामना की निवृत्ति से जिज्ञासा की पूर्ति होती है। भगवान की आज्ञा ही कर्म है। ईश्वर भक्त के सामने पहाड़ के समान कार्य आवे तो भी उसे बोझा मालूम नहीं होता। जिसका काम है वह जाने, भक्त तो भगवान का सिपाही है। आज्ञा का पालन करना यही एकमात्र उसका उद्देश्य है। शक्ति और सामग्री तो सब उसकी है। फिर भक्त को बोझा क्यों मालूम दे। भोगों की दासता से रहित होना ही वैराग्य का स्वरूप है। साधक को चाहिये कि सुख–दुःख के सदुपयोग को न भूले। मन में किसी प्रकार की चिन्ता, विलाप और भय न रहे। मन विश्वास से भरा हो, हृदय प्रीति से भरा हो, बुद्धि में भगवान की महिमा भरपूर हो।

(18)

(मोह और प्रेम का भेद; अपनी योग्यता, रुचि और विश्वास के अनुसार साधन निर्माण करने की युक्ति; भगवान की महिमा पर विश्वास; लक्ष्य पर दृष्टि रखने की आवश्यकता असली जीवन का स्वरूप)

प्रश्न–मोह और प्रेम में क्या भेद है?

उत्तर–मोह का सम्बन्ध शरीर से होता है, प्रेम का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा से होता है। मोहसे तो मनुष्य वियोग काल में दुःखी होता है, किन्तु प्रेम वियोग काल में अधिक चमकता है। मोह फँसाने वाला है, प्रेम सब प्रकार के बन्धनों से छुड़ाने वाला है।

प्रश्न–अपनी योग्यता को समझकर साधक अपने साधन का निर्माण कैसे करे?

उत्तर–विवेक शक्ति, क्रिया शक्ति और भाव शक्ति–इन्हीं के आधार पर योग्यता का पता लगता है। योग्यता में भेद होता है। रुचि में अधिक भेद नहीं होता। सभी साधक चाहते हैं कि जो सबसे अच्छी चीज हो, वही हमें मिले। सबसे अच्छी चीज एक ही होती है। उसमें प्रकार भेद हो सकते हैं; परन्तु वस्तु भेद नहीं होता। योगी उसी को 'योग' कहता है, विश्वासी उसीको 'ईश्वर' कहता है, विवेकी उसी को 'बोध' कहता है। योग्यता और रुचि के अनुसार ही साधन का निर्माण होता है।

साधक को चाहिये कि अपनी योग्यता और रुचि का ठीक–ठीक अध्ययन करे। उसमें अपने को धोखा न दे अर्थात् दूसरों की ओर देख कर योग्यता और रुचि से विरुद्ध साधन का लालच न करे। रुचि साधक में स्वाभाविक होती है; वह किसी दूसरे से प्राप्त नहीं होती। समझ दूसरे से प्राप्त हो सकती है और होती है। अतः साधक को अपने स्वभाव का अध्ययन करना चाहिये। दो व्यक्तियों का भी स्वभाव सर्वथा एक–सा नहीं होता।

इसलिये योग्यता और स्वभाव के भेद से साधन में भेद होगा; परन्तु सफलता में सबकी एकता हो जायगी। उपाय में भिन्नता और फल में एकता इसी का नाम 'साधन' है।

सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति कर्म के फलस्वरूप होती है। इसलिये कर्म के फल में एकता नहीं होती। अपनी योग्यता के अनुसार जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है; परन्तु सबसे श्रेष्ठ वस्तु के लिये अर्थात् भगवत प्राप्ति के लिये जो साधन किया जाता है उसके फल में भेद नहीं होता।

साधक को विचार करना चाहिये कि क्या मैंने अपनी प्राप्त शक्ति का सदुपयोग कर लिया है या कमी रखी है? विचार करने पर मालूम होगा कि कमी रखी है। मैंने अपने को पूरा नहीं लगाया है।

हरेक मनुष्य अपने मन में भरी हुई बातों को पूरे–पूरे ढंग से बाहर नहीं निकालता, किन्तु ऊपर से कुछ–न–कुछ भरता रहता है; अतः साधक को चाहिये कि अपने मन को टटोले, उसमें क्या–क्या भरा है, उसे भली भाँति देखे और सोचे कि मुझ में कौन–सी ऐसी असमर्थता है, जिसने मुझे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचाने दिया। अवश्य ही मुझे किसी ऐसे सुख में रस आता है, जिसने मुझे फँसा रखा है। इस प्रकार सोचकर उस रुकावट को विवेकबल से अथवा विश्वासबल से दूर करे, तभी वह साधनमें अग्रसर हो सकता है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि साधक को जो कुछ करना चाहिये उसे करता भी नहीं और न करने के दुःख से दुःखी भी नहीं होता। वह जितना समय और मन अनावश्यक कामों में लगाता है, उतना अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये नहीं लगाता। यदि साधक अपने मन की वास्तविकता को विवेक के प्रकाश में खोलकर रखे तो उसे मालूम होगा कि मेरे मन में बहुत–से ऐसे संकल्प भरे हैं जिनको मैं न तो पूरा करता हूँ और न मिटाता ही हूँ। यही कारण है कि मेरा मन संकल्पों के जाल में फँसा रहता है और

शुद्ध नहीं हो पाता। चित्त शुद्ध न होने के कारण ही मुझे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब हो रहा है।

मनुष्य अपने मन के असली फोटो को छिपाता चला जाता है और वह जो जानता है उसके विपरीत आचरण करता है। साधारण मनुष्यों में और सन्त में यही अन्तर होता है कि सन्त तो जैसा जानता है वैसा मानता है और जैसा मानता है वैसा करता है, परन्तु साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं करते। अतः साधक को सन्तों का अनुकरण करना चाहिये।

मनुष्य की स्थिति सदैव एक–सी नहीं रहती, बदलती रहती है। अतः साधक को सोचना चाहिये कि जब मैं वर्तमान स्थितिसे अलग हो जाऊँगा, तब कहाँ और कैसे रहूँगा? इसका विवेक पूर्वक अध्ययन करने से साधक प्राप्त स्थिति से ऊपर उठने के लिये अग्रसर हो सकता है।

भोगों की रुचि हमेशा बदलती रहती है। एक रुचि की पूर्ति होते ही दूसरी पैदा हो जाती है। इस प्रकार रुचि की उत्पत्ति और पूर्ति के जाल में प्राणी फँसा रहता है। जिसको वह बुरी बात समझता है, उसे भी करता रहता है, परन्तु रुचि की पूर्ति के रस से मोहित रहने के कारण उसके करने का दुःख नहीं होता और जो सबसे अच्छी चीज है उसे न पाने का भी दुःख नहीं होता। इसलिये साधक अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ पाता। यदि उसके जीवन में वास्तविक दुःख का उदय हो जाय, तो उसे बहुत शीघ्र लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है।

जिस चिन्तन को मनुष्य विचार के द्वारा व्यर्थ समझता है, जिसमें मन को नहीं लगाना चाहता, उसमें तो उसका मन लगा रहता है और जिसमें लगाना चाहता है उसमें नहीं लगता, तथापि वह दुःखी नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि अपने लक्ष्य के महत्त्व को न जानने के कारण उसकी आवश्यकता का उसे ज्ञान नहीं है। इसलिये उसकी तीव्र लालसा नहीं है।

अतः साधक को चाहिये कि भगवान की महिमा को समझे और उस पर पूरा विश्वास करे एवं अपनी लालसा को सजीव बनावे तथा जब तक वह पूरी न हो जाय तब तक चैन से न रहे।

सांसारिक सुख आने पर उपभोग में जडता आती है। सुखभोग में लगे रहने वाले मनुष्य की विवेक शक्ति सो जाती है। अतः साधक को कभी सुखभोग में नहीं रमना चाहिये।

मनुष्य के मन की सब बातें भगवान् पूरी नहीं होने देते। इसमें भी उनकी कृपा भरी हुई है। यदि उसके मन की सब बातें पूरी होने लगें तो ऐसी भयानक स्थिति पैदा हो जाय जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस पर एक कहानी है–

एक गृहस्थी में तीन व्यक्ति थे। एक पिता, दूसरी उसकी पत्नी, तीसरा उसका लड़का। वे तीनों बड़े दुःखी थे। उनके अभाव की पूर्ति नहीं होती थी। शिव और पार्वती उधर से निकले तो पार्वती ने कहा–'इनको ऐश्वर्य प्रदान करके सुखी बना दीजिये।' तब शिव जी ने कहा–'ये लोग सुखी होना नहीं चाहते।' परन्तु यह बात पार्वती की समझमें नहीं आयी। तब शिवजी ने पहले स्त्री से कहा–'तुम जो चाहो अच्छे–से–अच्छा वर माँग लो।' उसने कहा–'मैं चौदह वर्ष की बड़ी सुन्दर रूपवती और तन्दुरुस्त हो जाऊँ।' शिवजी ने कहा 'ठीक है।' वह वैसी ही हो गयी। फिर उसके पति से कहा कि 'तुम भी वर माँग लो।' तब पतिने सोचा कि 'यह स्त्री तो मुझ बूढे को छोड़कर दूसरा पति करना चाहती है।' अतः उसने वर माँगा कि 'यह सूकरी हो जाय।' तब वह सूकरी हो गयी। उसके बाद लड़के को वर माँगने के लिये कहा। उसने माँगा –'हम लोग जैसे पहले थे वैसे ही हो जायँ।' तब वैसे ही हो गये। शिवजी ने पार्वती से कहा –'तमाशा देख लिया? ये लोग कहाँ सुखी होना चाहते हैं?'

अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य को अपने वास्तविक सुख–दुःख का ज्ञान नहीं है। वह अपने मन की बात पूरी होने को सुख और पूरी न होने को दुःख मानता है। जब मनुष्य सच मुच दुःखी हो जाता है, तब उस समय

उसकी किसी प्रकार के सुख भोग में प्रवृत्ति नहीं होती और भोग वासना का अन्त हो जाता है। संसार से अरुचि हो जाती है। तब वह दुःख मनुष्य को प्रभु से मिला देता है; क्योंकि सुख भोग की रुचि और प्रवृत्ति से ही मनुष्य भगवान से विमुख होता है और भोग वासना की निवृत्ति से भगवान के सम्मुख और संसार से विमुख होता है।

जिसको लोग जीवन कहते हैं यह जीवन नहीं है। यह तो मृत्यु का ही दूसरा नाम है। एक अवस्था की मृत्यु को ही दूसरी अवस्था का जन्म कहते हैं। जैसे बीज की मृत्यु और पौधे की उत्पत्ति, बाल्यावस्था की मृत्यु और कुमार एवं यौवनावस्था की क्रम से उत्पत्ति। इनमें कोई भी अवस्था स्थायी नहीं है। हरेक क्षण में परिवर्तन होता है। परिवर्तन का ही नाम मृत्यु है। अतः यह जीवन नहीं है। असली जीवन तो वह है जिसमें मरने का डर नहीं है, परन्तु लोग इस परिवर्तन शील अवस्था को ही जीवन मानने लगे हैं एवं शरीर–इन्द्रियों के साथ विषयों के सम्बन्ध को ही उन्होंने सुख मान रखा है। वास्तव में शरीर तो एक हाड़–मांस और मल–मूत्र की थैली है। इसकी चाहने आत्मा की चाह को अर्थात् अमर जीवन की चाह को ढक रखा है। भोग की चाहने मनुष्य को ईश्वर से विमुख कर रखा है।

साधक को चाहिये कि इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध से होने वाले सुख–भोग की चाह को मिटाकर भगवान के सम्मुख हो जाय। विचार करने पर मालूम होगा कि सब चीजों के रहते हुए भी अभाव का अनुभव होता है। इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती। संयोग का अन्त होकर वियोग आयेगा। सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, उनका संयोग कैसे रह सकता है?

जिसके मन में शरीर रखने की रुचि है, जो शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है, वह ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। जो वियोग को अपनाता है, उसे योग और वैराग्य की प्राप्ति होती है। क्योंकि संसार का चिन्तन टूटने से ही योग सिद्ध होता है, अतः साधक को चाहिये कि जो चीज उसे छोड़ती है, उसे पकड़े नहीं।

प्राप्त कर्तव्य को भगवान के नाते ठीक–ठीक पूरा कर देने से जीवन में सुन्दरता आती है। सेवा से संसार में सुन्दरता आती है। अतः साधक को चाहिये कि जो काम वह कर सकता हो उससे अपने को बचाये नहीं। जो संकल्प पूरा करने योग्य हो उसे पूरा कर दे। जो पूरा करने योग्य न हो उसे मिटा दे।

जीवन में दोष होना आश्चर्य नहीं है। यह तो मानव का स्वभाव है, परन्तु निर्दोषता की माँग ही उसका पुरुषार्थ है। यदि साधक के हृदय में दोष–उत्पत्ति का गहरा दुःख हो तो दोष अवश्य मिट जायगा। गहरे दुःख से योगी को योग, विवेकी को भोगों से वैराग्य प्राप्त होकर प्रभु–मिलन का मार्ग मिलेगा।

(19)

(जगत से सम्बन्ध होने का कारण – अपनी गलती को समझना आवश्यक; दीनता और अभिमान के नाश का उपाय – पुस्तक–अध्ययन की अपेक्षा अपने जीवन का अध्ययन परम आवश्यक – विद्या और शिक्षा का भेद)

प्राणी का शरीर से सम्बन्ध होने के कारण जगत से सम्बन्ध हुआ है। संसार का काम जैसे करना चाहिये, ठीक ढंग से उसे पूरा कर देने से करने की वासना मिटती जाती है और न करने की स्थिति प्राप्त हो जाती है अर्थात् साधक को सफलता मिल जाती है।

हरेक कार्य में मनुष्य दूसरों की गलती बताकर अपने को निर्दोष साबित करना चाहता है। इससे उसका सुधार नहीं होता और आपस में विवाद पैदा होता है; अतः साधक को चाहिये कि अपनी गलती का अनुभव करे। ऐसा करने पर ही उसका सुधार होता है।

भीतर दीनता रहते हुए भी मनुष्य ऊपर से बनावट करके अपने को अच्छा दिखाना चाहता है और अच्छाई का अभिमान करता है। वास्तव में दीनता और अभिमान दोनों ही साधन में विघ्न हैं। अतः साधक को चाहिये कि दीनता और अभिमान दोनों को मिटा दे।

प्रश्न–दीनता और अभिमान कैसे मिटे?

उत्तर–अपने प्रभु के सम्मुख दीन होना, वह दीनता नहीं है जिसको मिटाना है। मिटाना तो उस दीनता को है, जिससे मनुष्य संसार की दृष्टि में दीन हो रहा है। अपने से अधिक दुःखियों को देखने पर दीनता का दुःख और अधिक सुखियों को देखने पर अभिमान मिटता है, परन्तु यह असली उपाय नहीं है। अपने प्रभु के सम्बन्ध से जो दीनता और अभिमान को मिटाया जाता है, वही दीनता और अभिमान को सर्वथा मिटा देना है। भाव यह है कि अपने को भगवान का समझ लेने के बाद दीनता नहीं आती और सबको भगवान का समझने के बाद किसी वस्तु, परिस्थिति और शक्ति आदि का अभिमान नहीं रहता। जो प्राणी वास्तव में सम्मान के योग्य न होने पर भी सम्मान चाहता है, वह मान की दासता में फँस जाता है, उन्नति नहीं कर पाता।

प्रश्न–सबसे अच्छी पुस्तक कौन–सी है?

उत्तर–जब तक मनुष्य अपनी वर्तमान दशा का अध्ययन नहीं कर लेता, तब तक ग्रन्थ के अध्ययन से लाभ नहीं उठा सकता। जो अपनी दशा का अध्ययन करता है, उसको ग्रन्थ से उस बात का समर्थन मिलता है और सन्देह दूर होकर दृढ़ता आ जाती है। जिस ग्रन्थ की मूल भाषा को मनुष्य समझ सकता हो, वह उसके लिये ठीक है। यदि मूल समझ में न आये तो जिस आचार्य पर उसका विश्वास हो, उसका बताया हुआ अर्थ मानना ठीक है; क्योंकि भाषान्तर करने वालों के भाव का अर्थ में मिश्रण हुए बिना नहीं रहता। सभी आचार्य जो बात करने के लिये कहेंगे, उसमें विशेष अन्तर नहीं होगा; किन्तु मान्यता में अन्तर होगा। अतः जिस पर विश्वास हो, उसकी मान्यता का अनुसरण करना चाहिये।

विचार करने पर मालूम होता है कि ऐसी कोई बात ग्रन्थ या उपदेशक साधक को नहीं बता सकता जो वह स्वयं नहीं जानता है। अतः साधक को सबसे पहले बिना किसी पक्ष पात के अपने जीवन का अध्ययन करना चाहिये। 'स्व' का अध्ययन अर्थात् अपनी वस्तु स्थिति के अध्ययन का

नाम ही स्वाध्याय है। जो काम मनुष्य दूसरों से अपने लिये नहीं चाहता, वह उसको दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये। जैसे कठोर वाक्य हम दूसरों से सुनना नहीं चाहते तो किसी से कठोर वचन बोलना भी नहीं चाहिये। हम सम्मान चाहते हैं, अपमान नहीं चाहते तो दूसरों को सम्मान देना चाहिये, उनका अपमान नहीं करना चाहिये। जो अपना बुरा नहीं चाहता उसे दूसरे किसी का बुरा नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार हरेक आचरणों की शिक्षा अपने जीवन के अध्ययन से मिल सकती है।

इस प्रकार जब साधक अपने जीवन का ठीक–ठीक अध्ययन करके अपने आचार को ठीक कर लेता है, तब उसका जीवन सुन्दर बन जाता है। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसका बुरा नहीं होता है। जो बल का दुरुपयोग नहीं करता, उसका बल घटता नहीं। अतः साधक को चाहिये कि किसी का बुरा न चाहे और परायी वस्तु लेने की इच्छा न करे।

केवल ग्रन्थों के पढ़ने से और उपदेश सुनने से मनुष्य बुद्धि द्वारा तो बहुत जान लेता है, परन्तु उसके अनुसार अपना जीवन नहीं बना पाता। उसके मस्तिष्क में और हृदय में बड़ी दूरी हो जाती है। इस कारण उसके लिये आगे बढ़ने की बात तो दूर रही, अपने स्थान पर डटे रहना भी मुश्किल हो जाता है। जैसे किसी का दाहिना पैर तो बहुत आगे निकल जाय और बाँया बहुत दूर रह जाय तो वह न आगे चल सकता है और न खड़ा ही रह सकता है, वही हाल उसका होता है। अतः साधक को चाहिये कि बुद्धि और हृदय की दूरी को हटाकर दोनों की एकता करे अर्थात् अपनी जानकारी के अनुसार जीवन बनाता रहे और उसके बाद आगे की बात जानने की कोशिश करे।

विद्या और शिक्षा में बड़ा अन्तर होता है। पण्डित जिस बात को पढ़ाई के द्वारा सीखता है, सन्त उसको अनुभव से जानता है। सीखी हुई बात स्मृति के रूप में होती है। जानी हुई बात जीवन बन जाती है। चित्त शुद्ध होने पर जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही ठीक ज्ञान है। केवल शिक्षा द्वारा प्राप्त

जानकारी ज्ञान नहीं है। उससे तो अभिमान बढ़ता है, जो कि साधना में विघ्न है।

जब इन्द्रियों का ज्ञान बुद्धि में विलीन हो जाता है तब चित्त शुद्ध होता है और जब बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों में विलीन हो जाता है अर्थात् जब मनुष्य अपनी जानकारी का अनादर करके इन्द्रियों के ज्ञान को ही ज्ञान मान लेता है और इन्द्रियों के भोगों में ही रचा–पचा रहता है, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव बुद्धि पर पड़ता रहने से बुद्धि विषम रहती है, उसमें समता नहीं आती। प्रभु का प्रेम तो बुद्धि के ज्ञान से भी परे की बात है। जब बुद्धि के ज्ञान में अहं गल जाता है, तब साधक को आगे का मार्ग मिल जाता है। अतः साधक को चाहिये कि बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान पर विजय प्राप्त करके बुद्धि को सम बनाये और उसमें अहंको गला दे।

भाषा की जानकारी में और वास्तविक ज्ञान में बड़ा अन्तर है। भाषा के ज्ञान से जो शिक्षा मिलती है उससे जीवन की शिक्षा का महत्त्व अधिक है। भाषा की शिक्षा न होने पर भी जीवन शिक्षित बन सकता है। जिसके जीवन में सदाचार आ गया है, वही सदाचार का सच्चा ज्ञान है वह आचार की शिक्षा शिक्षक है। जिसको केवल पुस्तकों का नहीं दे सकता।

इसी प्रकार आनन्द और सुख में भी बड़ा अन्तर है। सुख से आसक्ति बढ़ती है और वह दुःख के रूप में बदलता है। आनन्द सदा एक रस और अखण्ड होता है। उसका कभी अभाव नहीं होता।

इन्द्रियों के ज्ञान की आसक्ति से वास्तविक ज्ञान ढका रहता है। अतः साधक को चाहिये कि बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान को दबाकर चित्त को शुद्ध करे।

शिक्षा से जीवन में सुन्दरता आती है; परंतु उससे अविद्या का नाश नहीं होता। अविद्या का नाश तो विद्या से ही होगा अर्थात् यथार्थ ज्ञान से ही होगा। जो साधक सबसे अलग होकर अर्थात् सबका आश्रय त्यागकर मौन हो जाता है, उसको वह विद्या प्राप्त होती है, जिससे अविद्या दूर होती

है। जो 'है' (परमात्मा) उसका बोध और जो 'नहीं' है' (प्रकृति) उसकी निवृत्ति–इसी का नाम विद्या है।

भीतर और बाहर सब ओर से मौन होने का नाम मौन है अर्थात् मन, बुद्धि और अहं–इन सबके मौनको यहाँ मौन कहा गया है। अहंकृतिका नाश और अहंकी स्फूर्ति का मौन होने पर जो जीवन बनता है, वही अमर जीवन है।

श्रम, संयम, सदाचार और सेवा–ये चारों जीवन को सुन्दर बनाने वाली शिक्षाके अंग हैं एवं त्याग और प्रेम विद्या के अंग हैं।

छोटी–छोटी बातों में गलती करने से मनुष्य की आदत बिगड़ जाती है, वह अपने जीवन को सुन्दर नहीं बना पाता।

साधक को चाहिये कि साधन में शिथिलता न आने दे। आलस्य का आदर और संयम का त्याग करने से साधन में शिथिलता आती है। गुण से तो मनुष्य का विकास होता है और गुणों के अभिमान से पतन होता है।

विद्या के फल का वर्णन नहीं किया जा सकता। त्याग और प्रेम से संसार का कल्याण होता रहता है। जो सच्चा त्यागी होता है, जिसमें त्याग का अभिमान नहीं होता, उसीसे त्याग की शिक्षा मिलती है।

(20)

(पुरुषत्व की व्याख्या और मीराजी की जीव गोस्वामी जी से बातचीत कान्ताभाव का स्वरूप – साधन में तत्परता होने का उपाय और साधन का महत्त्व – भगवान के नाते किया जाने वाला हरेक कर्म साधन है)

प्रश्न–लोग कहते हैं–व्रज में पुरुष तो एक श्री कृष्ण ही हैं, अन्य सब स्त्री हैं, इसका क्या भाव है?

उत्तर–जो स्वयं सब प्रकार से पूर्ण हो और दूसरे को पूर्ण बनाने में समर्थ हो–वह पुरुष है, एवं जिसको पुरुष की आवश्यकता है, लालसा है–वह स्त्री है। इस अर्थ के अनुसार ईश्वर तो पुरुष और जीव स्त्री–यह

परिभाषा होती है। यह बात मीराँ जीने जीव गोस्वामी जी से कही थी। जब मीराँ जी श्री वृन्दावन गयी थीं, तब जीव गोस्वामी जी से मिलने के लिये उन्होंने सन्देश भेजा। गोस्वामी जी ने उत्तर कहलाया कि मैं स्त्रियों से बातचीत नहीं करता। इसके उत्तर में मीराँ जी ने कहलाया कि मैंने तो सुना था कि पुरुष एक श्री कृष्ण ही हैं, फिर इस व्रज में आप दूसरे पुरुष कहाँ से आ गये? यह उत्तर सुनते ही उन्होंने मीराँ जी से बातचीत करना स्वीकार कर लिया।

प्रश्न–कान्ताभाव किसको कहते हैं?

उत्तर–भगवान को अपना प्रियतम और अपने को उनकी प्रिया मानकर जिस साधन का आरम्भ होता है, उसे कान्ताभाव कहते हैं। इसी को माधुर्यभाव भी कहते हैं। इस भाव में दास्य भाव, सख्य भाव और वात्सल्यभाव आदि सभी भावों का समावेश है। इस कारण यह सबसे ऊँचा कहा जाता है। प्रेम की अवस्था का नाम भाव है। वास्तव में कोई भाव छोटा–बड़ा नहीं होता। अपने–अपने अधिकार के अनुसार सभी ठीक हैं। स्त्री जब पति की सेवा करती है, तब दासी होती है; भोजन कराती है, तब माता का काम करती है, पति को सलाह देती है तब सखी होती है और जब प्रेम करती है, तब कान्ता होती है। जैसे–जैसे संकोच कम होता जाता है, वैसे–वैसे भावका परिवर्तन होता जाता है। कान्ता–भाव में संकोच का सर्वथा अभाव है। अतः प्रेमी और प्रेमास्पद में अभिन्नता हो जाती है।

प्रश्न–साधन में तत्परता कैसे हो?

उत्तर–तत्परता ही तो साधन है। असल में तो साधक कहना ही उसे चाहिये, जिसमें पूर्ण तत्परता हो; परंतु कोई साधक बनने को तैयार हो तब न तत्परता का प्रश्न उठे। पहले कोई अपने को साधक माने और साधन करने का इच्छुक हो।

जब तक मनुष्य साध्य से अपनी दूरी समझता है, उसे यह विश्वास नहीं होता कि साध्य मेरी ही जाति का है, वह मुझे वर्तमान में ही मिल सकता है, वह मुझसे भी अधम साधक से मिला है और मिलता है, तब तक

साधन में प्रवृत्ति और तत्परता नहीं होती। वह समझता है कि साधन करते–करते किसी–न–किसी जन्म में साध्य मिलता होगा। इस कारण प्राप्त सुखभोग की चाह का त्याग नहीं करता, इसलिये उसकी साधन में तत्परता नहीं होती।

यदि साधक को यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि मेरा साध्य मुझे वर्तमान में, अभी, इसी समय प्राप्त हो सकता है और मैं जो कुछ साधन कर सकता हूँ, उसी से मिल सकता है तो उसकी साधन में तत्परता हो सकती है। जितना विश्वास दृढ़ होता है उतनी ही तत्परता अधिक होती है।

योग्यता और रुचि के अनुसार ठीक–ठीक साधन का निर्माण होने से साधन में साधक की तत्परता होती है। अपने विवेक का आदर करके या सत्पुरुषों से परामर्श करके जब कोई साधन का निर्माण करने की ही चेष्टा न करे, तब तत्परता कैसे हो। जो साधन भार रूप मालूम होता है, जिसमें रुचि और उत्साह नहीं है, वह वास्तव में साधन ही नहीं है। प्राणी पहले से ही ऐसी धारणा कर लेता है कि क्या वर्तमान में और मेरे–जैसे साधारण प्राणी को भगवान् मिल सकते हैं? अर्थात् यह मानो सम्भव ही नहीं है। पहले तो वह प्रत्यक्ष उदाहरण देखना चाहता है। यदि कोई उदाहरण मिल जाय तो भाग्य पर छोड़ देता है कि 'मेरा ऐसा भाग्य कहाँ, ये बड़े भाग्यवान् हैं, इनपर भगवान की कृपा है। इनमें अमुक योग्यता है, अमुक सुविधा प्राप्त है, मुझमें तो कुछ भी नहीं, मुझे कैसे मिल सकते हैं?' इस प्रकार जो अप्राप्त योग्यता की जरूरत मानकर स्वयं निराश हो जाता है, उसकी साधन में रुचि और तत्परता नहीं होती।

जो साधक यह समझता है कि मेरी जैसी योग्यता है, मैं जो कुछ कर सकता हूँ उसी का ठीक–ठीक उपयोग करने से भगवान् मिलेंगे। जो साधन को ही पहला काम समझता है, जिसको शरीर का विश्वास नहीं है, जो यह समझता है कि जीवन का क्या भरोसा, न जाने कब और किस कारण से अचानक शरीर का नाश हो जाय; अतः मुझे तो अभी–वर्तमान में ही अपने साध्य की प्राप्ति कर लेनी है, उसकी साधन में रुचि और तत्परता हो जाती

है। उसे साधन में परिश्रम मालूम नहीं होता। साधन ही उसका जीवन बन जाता है।

प्राप्त विवेक को शरीर और संसार की असलियत जानने के लिये लगाया जाय तो साधक इस बात को समझ सकता है कि शरीर और संसार मेरा नहीं है; इसका और मेरा सम्बन्ध माना हुआ है। वास्तविक नहीं है, यह अवश्य टूटने वाला है। इसमें सुख नहीं है। इस प्रकार जान लेने पर साधक संसार से विमुख हो जाता है। तब साधन में रुचि और तत्परता होती है।

परन्तु आजकल तो कोई साधक बनने को ही राजी नहीं है। यहाँ जो लोग आते हैं, सचमुच सत्संग करने के लिये कौन आता है।

किसी के मन में कोई बात पूछने की नहीं आती। सचमुच सत्संग होता, सभी लोग अपने–अपने साधन में आनेवाली अड़चनों का समाधान करना चाहते तो इतने प्रश्न उठते कि उनका उत्तर देनेके लिये समय ही नहीं मिलता; किंतु वैसा कहाँ होता है?

आजकल अपने को साधक मानने वाला तो दूसरों की ओर देखता रहता है। अन्य साधक और वक्ताओं की आलोचना करता है, अपने दोषों का निरीक्षण करके उनके मिटाने की ओर उसका लक्ष्य भी नहीं जाता। इसलिये साधन में तत्परता नहीं होती।

सच्चे साधक को चाहिये कि अपने दोषों को खोज–खोजकर निकाले। दूसरे के दोषों को देखने में और उनकी आलोचना में अपने अमूल्य समय को नष्ट न करे। जो काम करने के लिये मिले उसे छोटा न समझे, उत्साह पूर्वक पूरी शक्ति लगाकर भगवान के नाते उसको ठीक–ठीक करे। मन में यह भाव रखे कि मैं साधक हूँ, साधन कर सकता हूँ और करूँगा।

साधक को ऐसा नहीं मानना चाहिये कि अमुक वस्तु, व्यक्ति, अवस्था या परिस्थिति के न मिलने के कारण साधन नहीं हो सकता है, या उस व्यक्ति ने साधन में विघ्न डाल दिया। उसे तो यही मानना चाहिये कि कोई भी व्यक्ति साधन में विघ्न नहीं डाल सकता। भगवान तो विघ्न डालते नहीं,

सब प्रकार से सहायता करते हैं और अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं है। अतः मेरी दुर्बलता ही विघ्न है।

वास्तव में तो साधक का विश्वास और प्रेम ही साधन में रुचि और तत्परता उत्पन्न करता है, साधन के लिये बाह्य सहायता आवश्यक नहीं है।

जो सचमुच साधक है, अपने को साधक मानता है, वह कभी यह नहीं मानता कि मैं दुराचारी, कामी, लोभी, क्रोधी या मोही हूँ। जो अपने को दुराचारी, कामी, क्रोधी, लोभी मानता है वह अपने को साधक नहीं मान सकता। मनुष्य की मान्यता प्रतिक्षण बदलती रहती है। मान्यता और प्रवृत्ति दोनों की एकता हो और अपने को मनुष्य ठीक–ठीक साधक मान ले तो उसकी साधन में तत्परता अवश्य हो जाती है।

जो साधक जिस समय पूजा, नित्य कर्म करता है, उसको तो साधन मानता है और दूसरे कामों को साधन नहीं मानता, वह निरन्तर साधन नहीं कर सकता। पूजा करते समय भी उसका मन दूसरा काम करता रहता है, इस कारण उसका कोई भी काम ठीक नहीं हो पाता।

इसलिये साधक को चाहिये कि करने योग्य हरेक काम को साधन समझे, छोटे–से–छोटा जो भी काम प्राप्त हो, उसे पूरी योग्यता लगाकर उत्साह पूर्वक जैसे करना चाहिये, ठीक–ठीक करे। उसमें तुच्छ बुद्धि न करे। जो काम भगवान के नाते उनका काम समझकर उनकी प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं, वे सभी साधन हैं। अतः उसे समझना चाहिये कि माला फेरना, झाड़ू लगाना, कमरा साफ करना–ये सभी मेरे प्रियतम के काम हैं। इस भाव से काम करने वाला साधक हरेक काम करते समय प्रसन्न होता रहता है, उसका हृदय प्रेम से भरा रहता है, रोमांच और अश्रुपात होने लगता है। जब काम पूरा हो जाता है, तब प्रेम में डूब जाता है, उस समय कोई संकल्प नहीं रहता।

साधक की जैसी जानकारी हो, उसके अनुरूप भाव हो और भाव के अनुसार प्रवृत्ति होकर सबकी एकता हो जाय अर्थात् प्रवृत्ति में भाव की प्रबलता रहने के कारण भाव की ओर बढ़ता रहे, भाव से विवेक की ओर

बढ़ता रहे तो समझना चाहिये कि जीवन साधन की ओर बढ़ रहा है। यदि जानकारी से भाव की ओर, भाव से प्रवृत्ति की ओर गति हो अर्थात् प्रवृत्ति की प्रधानता रह जाय तो समझना चाहिये कि साधन में शिथिलता है।

आजकल तो यह देखा जाता है कि जब किसी को कोई काम करने को कहा जाता है, तब मन में क्षोभ पैदा होता है। वह समझता है कि मैं यहाँ सत्संग सुनने के लिये आया हूँ कि काम करने के लिये, काम तो घर में ही बहुत था। अतः वह काम को कुशलता पूर्वक नहीं कर पाता और उसकी काम में साधन–बुद्धि भी नहीं होती।

उससे यदि कहा जाय कि तुम काम नहीं कर सकते तो ध्यान करो तो कहता है कि ध्यान में मन नहीं लगता। यदि कहें कि नाम–जप करो तो उसमें भी मन नहीं लगता। ध्यान और नाम–जप तो होता नहीं, काम को तुम साधन समझते नहीं–बताओ क्या करोगे? उलटा करना तो साधन नहीं होता। इस प्रकार अपनी योग्यता को समझकर साधन न करने वाला मनुष्य साधन नहीं कर पाता; क्योंकि उसकी साधन में रुचि और तत्परता नहीं होती।

जो साधक करने योग्य हरेक काम को साधन मान कर भगवान के नाते कुशलता पूर्वक करता है, उसको करने के अन्तमें स्थिरता, योग, विवेक और प्रेम मिलता है। जो प्राणी मन की कामना पूरी करने के लिये सुख–भोग की इच्छा से काम करता है, उससे उसका मन पुष्ट होता है, बुद्धि निर्बल हो जाती है, तब मन इन्द्रियों को आधार बना लेता है, इन्द्रियाँ विषयों की ओर चली जाती हैं। इस प्रकार वह भोगों में फँसा रहता है, साधन नहीं कर पाता।

अपने मन की बात करना, दूसरे के मन की न करना –यह साधन नहीं है; किन्तु भगवान के नाते जो दूसरों के मन की बात पूरी की जाती है, भक्तों का और बड़ों का आदेश मानकर जो काम किया जाता है, छोटों को प्यार देने के लिये उनके मन की बात पूरी की जाती है। इस प्रकार अपने मन की बात को छोड़कर जो भगवान के मन में अपने मन को मिला दिया

जाता है, जो कुछ करे भगवान का काम समझकर उन्हीं की प्रसन्नता के लिये करे, वही साधन है।

संसार तो अपने अधिकार की पूर्ति चाहता है। अतः साधक को चाहिये कि उसके अधिकार की पूर्ति कर दे, अपना कोई अधिकार न माने और संसार से किसी प्रकार की आशा न करे। इससे बुद्धि में समता एवं शरीर और संसार से विरक्ति हो जाती है।

मन को पुष्ट नहीं बनाना है। मन का तो नाश करना है। कोई समझे कि 'मन का नाश हो जाने पर भगवान का भजन कैसे करेंगे' तो ऐसी बात नहीं है। जब मन अमन हो जाता है, उसके बाद जो अपने–आप भगवान का स्मरण होता है, वही असली भजन है और वही साधन है। साधन मन से नहीं होता, विवेक पूर्वक विश्वास और प्रेम से होता है।

साधक का मन भगवान का, गुरु का और दूसरों का मन बन जाय, ऐसा जीवन ही वास्तविक जीवन है। जब प्राणी अपने मन की बात पूरी करता रहता है, अपना मन दूसरे को देना नहीं चाहता, तब वह मन साधन में उसकी तत्परता नहीं होने देता।

मनुष्य योनि साधन के लिये मिली है, जिसका जीवन साधन युक्त है, वही मनुष्य है। साधन रहित जीवन पशु–जीवन है। अतः साधक की प्रत्येक चेष्टा विवेक के प्रकाश में साधन युक्त होनी चाहिये। जो जीवन विवेक के प्रकाश से प्रकाशित रहे, वही साधन युक्त जीवन है। साधक का प्रत्येक कार्य कुशलता पूर्वक भाव युक्त होना चाहिये। उसका लक्ष्य स्थिरता, असंगता और प्रेम होना चाहिये।

(21)

(शान्ति मिलने का उपाय – भगवान् भक्त से प्रेम करते हैं – अपने दोषों को देखने और मिटाने की युक्ति – दूसरों के दोष देखना साधन में विघ्न है – जानकारी के अनुसार करने से सफलता – क्रिया शक्ति और चिन्तन शक्ति का उपयोग – अपने अधिकार का त्याग और दूसरे के अधिकार की रक्षा–यही कर्तव्य है)

प्रश्न–मनुष्य को शान्ति क्यों नहीं मिलती? और वह कैसे मिले?

उत्तर–मन की कामना पूरी करने के लिये कर्म करने से शान्ति नहीं मिलती। मन बलवान् होता है। अतः साधक को चाहिये कि मन को पुष्ट न करे, प्रत्युत उसका दमन करे। साधक का प्रयत्न चित्त शुद्धि तक ही है। उसके बाद शान्ति तो अपने–आप आ जाती है।

प्रश्न–समर्पण भी पुरुषार्थ है क्या?

उत्तर–समर्पण अन्तिम पुरुषार्थ है।

प्रश्न–इच्छा शक्ति कैसे बढ़े?

उत्तर–सब इच्छाएँ एक में विलीन हो जाने पर इच्छा शक्ति बलवती होती है। भिन्न–भिन्न प्रकार की इच्छाओं को मिटान के लिये समर्पण किया जाता है।

प्रश्न– भगवान् हमसे प्रेम करते हैं, यह कैसे मालूम हो?

उत्तर– भगवान पर विश्वास हो, उसमें किसी प्रकार का विकल्प न हो और उनसे साधक का सम्बन्ध हो तब मालूम हो सकता है।

जैसे माता अपने बच्चे के लिये तरसती है, वैसे ही भगवान् भी अपने भक्त के लिये तरसते हैं। बच्चा काना, लूला, बुरी शकल का या अन्धा–कैसा भी हो, माता उससे प्रेम करती है। बच्चा भी यही समझता है कि मेरी माँ है, मुझे उसका प्रेम मिलेगा। उसे यह सन्देह नहीं होता कि मैं काना, लूला, लँगड़ा या कुरूप हूँ, इसलिये माता प्रेम नहीं करेगी। भगवान में तो माता से भी अनन्तगुना वात्सल्य है। फिर वे भक्त से प्रेम करें, इसमें तो कहना ही क्या है। अतः जो एकमात्र भगवान को ही अपना मानते हैं, उनको भगवान का प्रेम मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह भक्तों का अनुभव है।

प्रेमी भक्त को ईश्वर ढूँढ़ता है। भक्त ईश्वर को ढूँढ़ने में अपने को समर्थ नहीं मानता। विचार शील साधक ईश्वर को ढूँढ़ता है। यही विचारमार्ग और प्रेममार्ग का अन्तर है। प्रेम मन–इन्द्रियों का व्यापार नहीं है, वह तो विश्वास और सम्बन्ध से प्राप्त होता है।

प्रश्न–अपने दोषों को कैसे देखें और उनको कैसे मिटावें?

उत्तर–गुण और दोषों को देखने की शक्ति हरेक मनुष्य में विद्यमान है। जिस योग्यता से वह दूसरों के दोषों को देखता है, उसी योग्यता से अपने दोषों को देखे। अपने दोषों को ठीक–ठीक देख लेने पर दुःख होता है और दुःख होने से दोष दूर हो जाते हैं।

दूसरों के दोष और अपने गुण देखने से मनुष्य का विकास रुक जाता है और अभिमान पुष्ट होता है तथा कर्तव्य से निराश होने पर भी विकास रुक जाता है। अतः साधक को चाहिये कि अपने गुणों को न देखे, पराये दोषों को न देखे और कर्तव्य से निराश न हो। जो सचमुच साधक होता है, उसे पराये दोष देखने की फुरसत ही नहीं रहती और उसे दीखते भी नहीं।

पराधीन व्यक्ति साधन नहीं कर सकता। अतः साधक को चाहिये कि दूसरों से किसी प्रकार की आशा न करे। अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार तत्परता से साधन करता रहे। अपनी योग्यता का अध्ययन करे कि मैं क्या–क्या कर सकता हूँ। जो कर सकता हो उसके अनुसार दृढ़ता पूर्वक साधन करने की चेष्टा करे। फिर जो कठिनाई आवे उसपर विचार करने पर बराबर रास्ता दिखलायी देता रहेगा। आजकल लोग अपनी योग्यता को नहीं देखते कि हम क्या कर सकते हैं। केवल पूछते रहते हैं कि क्या करना चाहिये। इससे काम नहीं चलता। करने लायक साधन तो असंख्य हैं; परंतु उसके तो वही काम आयेगा जो वह स्वयं कर सकता हो। साधन बहुत बढ़िया हो परंतु जो नहीं कर सके उसके काम का नहीं। अतः साधन वही ठीक है जो वह कर सके तथा जिसमें साधक का प्रेम और विश्वास हो।

एक बार किसी के पूछने पर श्री जवाहरलाल जी ने कहा था कि जब कोई कठिनाई आती है, तब दो कदम चलने का रास्ता मुझे दिखलायी देता है। दो कदम चलने पर फिर दो कदम चलने का रास्ता मिल जाता है।'

कठिनाई एक प्रकार का तप है। लपके बाद सामर्थ आती है। यह नियम है। अतः साधक को कभी निराश नहीं होना चाहिये। प्राप्त योग्यता के अनुसार साधन करते रहना चाहिये।

क्योंकि न जानने का दोष इतना प्रबल नहीं है जितना किन करने का दोष है। अतः साधक को चाहिये कि जानने के पीछे न पड़े, जो कुछ जाना है उसके अनुसार करना आराम कर दे। न करने दोष को मिटा दे एवं जिसको न कर सके, उसके करने की इच्छा का त्याग कर दे। जानना तो एक प्रकार का प्रकाश है। जिसके हाथ में सर्चलाइट या लालटेन का प्रकाश है, वह उसे लेकर चलता रहेगा तो जितना चलेगा उतना ही उससे आगे का मार्ग दीखने लगेगा। इस प्रकार वह बहुत दूर चला जा सकता है। परंतु यदि इस आशा पर वहीं खड़ा रहे कि जब आखिर तक प्रकाश हो जायगा, पूरा रास्ता दिखलायी देगा, तब चलना आरम्भ करूँगा तो वह थोड़ी दूर भी नहीं जा सकेगा। दाँय और बाँयें पैर समान जानने और करने की शक्ति का मेल है। चलते रहने से एक के बाद दूसरी शक्ति अपने–आप आती रहेगी। अतः साधक को चाहिये कि जो कुछ भी वह थोड़े से थोड़ा जानता है उसके अनुसार चलना आरम्भ कर दे।

ईश्वर को प्राप्त करने में कर्म की अपेक्षा नहीं है। उसमें तो एकमात्र लालसा चाहिये, व्याकुलता चाहिये। साधक जितना अधिक प्रभु के लिये व्याकुल होगा, उतनी ही शीघ्रता से उसे भगवान मिलेंगे। उनको पाने के लिये तो व्याकुलता का ही महत्त्व है।

भोगों की प्राप्ति व्याकुलता से नहीं होती, भोग कर्म करने से मिलते हैं, अतः उनकी प्राप्ति के लिये कर्मका महत्त्व है।

यदि कोई कहे कि मुझसे भगवत–चिन्तन नहीं होता तो उसे सोचना चाहिये कि फिर मैं विषयों का चिन्तन क्यों करता हूँ। जिस शक्ति से वह विषयों का चिन्तन करता है, उसी शक्ति को ईश्वर चिन्तन में लगा देना चाहिये।

क्योंकि चिन्तन करना मनुष्य का स्वभाव है; जब वह ईश्वर चिन्तन नहीं करता, तब विषयों का चिन्तन करता है। कोई भला काम नहीं करता तो बुरा करता है। यदि कुछ न करे तो भी बहुत ठीक है; परंतु बिना करे

तो रहे नहीं और करने योग्य काम करे नहीं, उलटा करे; तो यह साधन नहीं है। इससे विकास नहीं हो सकता।

प्रायः लोग अपनी शक्ति का उपयोग जिस प्रकार करना चाहिये वैसे नहीं करते, उसका दुरुपयोग करते हैं। जिसका चिन्तन करना चाहिये उसके लिये तो कर्म करते हैं और जिसके लिये कर्म करना चाहिये उसका चिन्तन करते हैं। इसलिये दोनों ओर से असफल रहते हैं।

विचार करने पर मालूम होगा कि संसार और सांसारिक भोगों के लिये चिन्तन आवश्यक नहीं है, उनके लिये कर्म की आवश्यकता है क्योंकि चिन्तन से संसार को कोई लाभ नहीं होता। चिन्तन करने वाले को भी भोग प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार ईश्वर कर्म से नहीं मिलते, वे विश्वास, चिन्तन और प्रेम से मिलते हैं।

कर्म करने के लिये अपने से भिन्न बाहर के संगठन की जरूरत पड़ती है। कर्म के अनुकूल परिस्थिति और धन भी आवश्यक होता है। शरीर, इन्द्रिय और दूसरे व्यक्तियों की सहायता के बिना कर्म नहीं होता, किंतु चिन्तन, विश्वास और प्रेमके लिये किसी भी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। प्रभु ने विश्वास, प्रेम और चिन्तन शक्ति, जो कि भगवान की प्राप्ति कराने वाले हैं, मनुष्य मात्र को दिये हैं। इनका किसी के पास अभाव नहीं है। इनमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान को प्राप्त करने में कोई भी मनुष्य परतन्त्र नहीं है; किंतु भोगों की प्राप्ति में सर्वथा परतन्त्र है।

मन में अद्‌भुत शक्ति है। मनसे हरेक मनुष्य रत्नजटित मन्दिर बना सकता है; परन्तु वैसे यदि मन्दिर बनाना हो तो अनेक वस्तु और धन की जरूरत पड़ेगी। अतः हरेक मनुष्य उसे नहीं बना सकता।

शरीर के द्वारा कर्म करने से संसार के पदार्थ मिल सकते हैं, भगवान नहीं। भगवान् मन की शुद्धि से ही मिलते हैं।

मन की चाह पूरी करने में पराधीनता है, परन्तु उसका त्याग करने में पराधीनता नहीं है; उसी प्रकार संकल्पों को पूरा करने में और भोगों को प्राप्त करने में पराधीनता है, त्याग में नहीं है।

अतः साधक को चाहिये कि भोग वासना का त्याग करके शरीर से संसार की सेवा करे अर्थात् शरीर के द्वारा कर्म करके संसार के अधिकार की पूर्ति करे और मन को भगवान में लगाये अर्थात् विश्वास, चिन्तन भगवान का करे, प्रेम भगवान में करे।

प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग न करे।

ईश्वर–प्राप्ति के लिये वन में जाने की जरूरत नहीं है। जो घर में आराम से रहकर भजन नहीं कर सकता, वह वन में कष्ट सहकर कैसे कर सकता है। वनमें रहना तो तप के लिये आवश्यक होता है।

ईश्वर तो उसको मिलता है जो अपना मन शुद्ध करके उसको ईश्वर–समर्पण कर देता है।

संसारमें रहने का उन्हीं लोगों को अधिकार है, जो अपने साथियों को सुख दे सकते हों, अपने अधिकार का त्याग करके उनके अधिकार की रक्षा कर सकते हों, अपने मन की इच्छा का त्याग करके उनके मन की धर्मानुकूल इच्छा को पूरी कर सकते हों। जो अपने साथी को सुखी नहीं रख सकता, उसको चाहिये कि उनसे क्षमा माँगकर अलग हो जाय और अपने लिये उनसे कुछ नहीं चाहे, दूसरों से अपने मन की बात पूरी कराने का हक साधक को नहीं है।

मानव को शरीर तथा अन्य वस्तुएँ संसार की सेवा करने के लिये अर्थात् उसके अधिकार की पूर्ति करके उससे उऋण होने के लिये मिली हैं और मन भगवान का चिन्तन करने के लिये मिला है। यदि मनुष्य शरीर से संसार की सेवा न करके उलटा अपने जीवन से लोगों को कष्ट देता रहे तो वह पापी है। दुष्ट जानवरों की भाँति ही अनादर का पात्र है। संसार उसका निरादर करता है, जो उसके काम नहीं आता और उससे कुछ चाहता है।

लोग साँप को भयानक समझकर उसे मार डालते हैं, परंतु वास्तव में वह भयानक नहीं है। अपने श्वास द्वारा वायु मण्डल के दोष को खींच कर हवा को शुद्ध बनाता है। अतः बहुत आवश्यक है। उसमें जो विष है, वह तो उसे अपनी जीवन–रक्षा के लिये अर्थात् खूराक पचाने के लिये मिला है। दूसरों को मारने के लिये नहीं। अतः हमलोगों को चाहिये कि उसको मारें नहीं, स्वयं सावधान रहें। अँधेरे में न निकलें, निकलना ही हो तो साथ में प्रकाश रखें।

यदि दूसरों की इच्छा से साधक को भोजन प्राप्त न हो तो शान्ति पूर्वक भूखा रह जाय। भूख को बिना किसी क्षोभ के शान्ति पूर्वक सहन कर लेना तप है। साधक को या तो सेवा करनी चाहिये या तप करना चाहिये अथवा अपने मन की चाह मिटाकर उसका नाश करना चाहिये; क्योंकि शान्ति तप और सेवा से मिलती है।

यदि कोई आशा करे कि पहले हमारे साथी सुधर जायँ, तब हम अपना सुधार कर सकेंगे, तो यह कभी नहीं होगा। साथियों का सुधार भी अपने सुधार से ही होगा।

अपने दुःख और कठिनाइयों का कारण मनुष्य खुद है। दूसरा कोई नहीं है। जो अपने स्थान पर ठीक नहीं रहता, वही संसार के सहयोग से वंचित रहता है। संसार अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होता, व्यक्ति स्वयं ही अपने कर्तव्य से च्युत होता है। संयम का अभाव और स्वार्थ–यही मनुष्य को गिराने वाले हैं। इसलिये साधक को चाहिये कि दूसरे अपना कर्तव्य पालन करते हैं या नहीं, संसार अपनी जगह पर ठीक है या गलत, इस विचार को छोड़कर वह स्वयं अपने कर्तव्य का पालन करे–अपनी जगह पर ठीक रहे।

तप और सेवा संसार के लिये करे एवं विश्वास, चिन्तन और प्रेम ईश्वर के लिये करे। भगवान की कृपा पर निर्भर रहे। भगवान की कृपा से ही मनुष्य भगवान को पा सकता है।

(22)
(दुःख की निवृत्ति का उपाय)

चित्त को ठहराने की अभिलाषा बड़ी अच्छी अभिलाषा है, इसे बलवान् बनाओ। प्रयत्न जारी रखो। साधन में सन्देह मत करो। जानकारी के अनुसार जीवन बनाओ। मान्यता के अनुसार क्रिया करो।

जानकारी का सम्बन्ध शरीर और संसार से है। मान्यता और विश्वास का सम्बन्ध भगवान से है।

प्रश्न–दुःख की निवृत्ति कैसे हो?

उत्तर–वासनाओं की निवृत्ति होने से दुःख की निवृत्ति होती है। जब साधक विवेक का आदर करके विचार द्वारा यह समझ लेता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, तब वासनाओं और संकल्पों का अभाव हो जाता है। इसके होते ही दुःख मिट जाता है। जब तक इन्द्रियों की माँग पूरी करने की इच्छा रहेगी, तब तक मन का काम रहेगा; इच्छा का अन्त होते ही मन का काम समाप्त हो जायगा। इन्द्रियों के और मन के क्रिया रहित हो जाने पर वासना का अन्त अपने–आप हो जाता है।

साधनमें जितनी स्वाभाविकता आयेगी, उतनी ही सबलता आयेगी। अतः साधक को अपना साधन स्वाभाविक बनाने की चेष्टा करनी चाहिये, ताकि वह बोझ मालूम न दे।

तीव्र जिज्ञासा होने से ज्ञान स्वतः होता है। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान बुद्धि से नहीं होता।

(23)
(मन न रुकने का कारण और उसे रोकने का उपाय – 'क्या करना चाहिये' का विवेचन)

प्रश्न–मन रुकता नहीं। इधर–उधर घूमता रहता है। इसका क्या कारण है?

उत्तर—मन के न रुकने का दुःख नहीं है, मन को रोकना परम आवश्यक है, यह अनुभव नहीं है। उसकी महिमा सुनकर रोकना चाहते हैं, परन्तु खास जरूरत नहीं मालूम होती, इस कारण नहीं रुकता। देखा जाता है कि हरेक आवश्यक काम पूरा न होने पर मनुष्य को बेचौनी होती है। धन के अभाव में दुःख होता है, प्रिय के वियोग में दुःख होता है, यहाँ तक कि खाना—पहनना भी अच्छा नहीं लगता। दुःख के भुलाने के लिये गलत मार्ग भी स्वीकार करते हैं। जैसे मादक द्रव्य सेवन करना आदिय परंतु दुःख नहीं मिटता। यह परिस्थिति तो साधारण दुःख की है। यदि मन न रुकने का किसी को इतना दुःख हो जाय कि जब तक मन न रुके, दूसरी कोई बात अच्छी न लगे, व्याकुलता उत्पन्न हो जाय, किसी भी घटना से चौन न पड़े, तो मन रुक सकता है; क्योंकि सचमुच असह्य दुःख होने पर सुखभोग की रुचि जाती रहती है, उस समय सुख का चिन्तन और सुख की लालसा समाप्त हो जाती है, किसी प्रकार की प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। रोने का भी साहस नहीं होता।

प्राणी के मन को सुख की लालसा स्थिर नहीं होने देती। एक साथ दो काम करते रहने का अभ्यास भी मन को स्थिर नहीं होने देता। सुख की लालसा से मन को स्थिर करने की चेष्टा करने पर भी मन स्थिर नहीं होता। देहाभिमान भी मन को स्थिर नहीं होने देता। मन स्थिर होने से जो आनन्द मिलता है, उसका बोध या विश्वास न होने के कारण भी मन स्थिर करने की पूर्ण रुचि नहीं होती।

इसलिये साधक को चाहिये कि मन स्थिर होने से परम आनन्द मिलता है, यह विश्वास करके उसके लिये रुचि उत्पन्न करे। जब तक मन स्थिर न हो, तब तक चैन से न रहे। प्रवृत्ति से मिलने वाले सुख का लालच छोड़ दे। मन के रुकने से जो क्षणिक शान्ति मिलती है, उसमें सन्तोष न करे। अपने को शरीर से भिन्न समझे। एक समय में दो काम करने की आदत छोड़ दे। कार्य करते समय आगे—पीछे की बात का चिन्तन न करे। जिस समय जो काम करे, पूरा मन लगा कर करे। ऐसा करने से जब मन

को इधर से हटाकर भगवान में लगाया जायगा, तब वह स्थिर हो सकता है।

जब तक मनुष्य की न तो प्रवृत्ति के सुख में अरुचि है, न निवृत्ति में ही पूरी रुचि है, तब तक मन स्थिर नहीं होता; क्योंकि सब ओर से हट जाने का नाम ही मन की स्थिरता है। संसार से हटा लेने पर भगवान में तो अपने–आप लग जायगा। चंचलता को रोकने के लिये ही प्रयत्न है। लगाने के लिये प्रयत्न आवश्यक नहीं है।

प्रश्न–मुझे क्या करना चाहिये।

उत्तर–यदि बिना किये रह सको तो कुछ भी नहीं करना चाहिये। बिना किये न रह सको तो सब कुछ करना चाहिये। भाव है कि जिन संकल्पों को विचार नहीं मिटा सको, उनको किल, भगवान के नाते पूरा करके मिटा देना चाहिये और नये संकल्प उत्पन्न न होने देना चाहिये।

विचार करने पर मालूम होता है कि कर्म का फल सुख और दुःख है। ये दोनों होते और मिटते रहते हैं। करने से जो कुछ मिलता है, वह कालान्तर में नहीं रहता। करने के पहले हम जिस परिस्थिति में होते हैं, अन्त में भी उसी स्थिति में आ जाते हैं। करने के पूर्व की और अन्त की स्थिति का यदि मनुष्य ठीक ठीक अध्ययन कर ले तो करने की इच्छा मिट जाती है।

जिसको किये बिना न रह सको, उस काम को करो; परन्तु करने की इच्छा मिटाकर न करने की स्थिति प्राप्त करने के लिये करो।

जो मनुष्य भोग कामना से कर्म करता है, वह उसका फल भोगता है। दुःखी होता है, फिर करता है, फिर फल भोगता है। भोग के बाद शोक की प्राप्ति निश्चित है। अनन्त काल से जीव इस करने और भोगने के चक्र में फँसा हुआ है। अतः जो कुछ करो, भोग–कामना से रहित होकर करो। प्रत्येक कर्म के दो फल होते हैं एक दृश्य और दूसरा अदृश्य। दृश्य फल तो अपने आप मिट जाता है, अदृश्य फल फल की कामना से रहित होने पर मिट जाता है। इस प्रकार कामना रहित भोग योग में बदल जाता है क्योंकि

कामना न रहने पर काम नहीं रह सकता। वास्तव में माने हुए अहंभाव का नाश अर्थात् कर्तापन और कामना का न रहना ही न करना है, क्योंकि शरीर के रहते हुए क्रिया का अभाव नहीं होता। अतः जो कुछ करो चाहरहित, चिन्तन रहित और फल की आशा से रहित होकर करो। संकल्प रहित और वासना रहित जीवन में माना हुआ अहं मिट जाता है।

जिस साधन द्वारा प्रभु से सम्बन्ध हो, वही करना चाहिये। अतः करना हो तो सेवा करो अथवा त्याग करो। भोग की रुचि से करने वाला योग से वंचित रहता है। आसक्ति और स्वार्थ पूर्वक कर्म करने वाला सुख–दुःख के जाल से नहीं बच सकता।

किसी भी वस्तु को अपना न मानना दृयही त्याग है। त्याग से वीतरागता उत्पन्न होती है। राग की निवृत्ति होने पर सब दोष मिट जाते हैं।

कठिनाई या अभाव को हर्ष पूर्वक सहन करना तप है। तप से सामर्थ्य मिलती है। उसको सेवा में लगा देना चाहिये।

अहंता और ममता का नाश विचार से होता है। सत्य के बोध से समस्त दुःख मिट जाते हैं। सत्य के प्रेम से अनन्त रस (परम आनन्द) प्राप्त होता है। अपने को शरीर न मानने से निर्वासना आती है और सदा रहने वाली चिर शान्ति मिलती है। करने योग्य काम वह है, जिसे किये बिना नहीं रह सकते, जिसको करने के साधन प्राप्त हैं, जिसका सम्बन्ध केवल वर्तमान जीवन से है, जिसमें दूसरे का हित है। किसी का भी अहित नहीं है। मनुष्य की करने में प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है–एक संसार की सेवाके लिये, दूसरी शारीरिक सुखभोग के लिये। सुखभोग के लिये करना ही स्वार्थ है। शरीर को संसार की सेवा में लगाकर सेवा के लिये करना ही कामना रहित करना है।

कामना की निवृत्ति से होने वाली स्थिति बड़ी उच्च कोटि की है। उस स्थिति में निर्विकल्पता आ जाती है, बुद्धि सम हो जाती है, जितेन्द्रिय प्राप्त हो जाती है। उसके प्राप्त होने पर मनुष्य स्वयं 'कल्पतरु' हो जाता है।

जिसको लोग कल्पतरु कहते हैं, उससे तो हित और अहित दोनों ही होते हैं। पर यह कल्पतरु तो ऐसा है जिससे कभी किसी का भी अहित नहीं होता। इससे मनुष्य को योग, बोध और प्रेम प्राप्त होता है।

सेवा करने वाले की आवश्यकता संसार भर को होती है। जिसकी आवश्यकता दूसरों को हो, वही महान् है और जिसको दूसरे की आवश्यकता हो, उसके लिये वह महान् है जिसकी आवश्यकता वह अनुभव करता है। जो किसी वस्तु की आवश्यकता का अनुभव करता है, उसके लिये वह वस्तु ही महान् है।

अतः साधक को अपना जीवन ऐसा सुन्दर बनाना चाहिये, जिससे संसार उसकी आवश्यकता समझे और उसकी ओर आकर्षित हो; किन्तु उसको संसार की जरा भी आवश्यकता न हो। जब साधक संसार को नहीं बुलाता, तब भगवान् उसके पास अपने–आप आ जाते हैं।

अनावश्यक संकल्प और इच्छा करके मनुष्य अपना नाश करता है, अतः साधक को चाहिये कि आवश्यकता की पूर्ति, इच्छाओं की निवृत्ति, चित्त की शुद्धि और लक्ष्य की प्राप्ति करे।

प्राप्त योग्यता से संसार के अधिकार की रक्षा करना और धर्मानुकूल सबको सुख पहुँचाना तथा संसार से कुछ न लेना–यही सेवा है। सेवा करने से हृदय में प्रेम प्रकट होता है। जीवन वही है जिसका शरीर विश्व की आवश्यकता बन जाय, अहंभाव सदा के लिये मिट जाय और हृदय प्रेम से भर जाय।

(24)
(प्रेम–प्राप्ति का साधन–विश्वास और अपनापन)

प्रश्न–कभी तो ऐसा मालूम होता है कि हृदय में प्रेम है और कभी ऐसा मालूम होता है कि हृदय सूना–सा है, प्रेम नहीं है, यह क्या है?

उत्तर–स्वयं साक्षी बनकर मन के गुण–दोषों को देखना, विश्वास और प्रेम का बार–बार निरीक्षण करना, यह प्रेम मार्ग की साधना नहीं है। साक्षी

भाव से यह देखना कि गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं, यह तो विचार मार्ग की साधना है। विश्वास और प्रेम की खोज करना तो वैसे ही गलती है। जैसे कोई बीज बीकर उसे खोद खोदकर देख कि उपजा या नहीं। अतः साधक को चाहिये कि आपको अपना समझो, उन पर दून, विश्वास करे, विश्वास विकल्प न आने दे। शरीर, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि को तथा अपने आपको पूर्णतया भगवान के समर्पण करके सब प्रकार से उन पर निर्भर हो जाय। उन पर पूरा भरोसा करे।

भगवान पर पूरा भरोसा होने पर ही समर्पण होता है। समर्पण करने के बाद जो यह देखना है कि कुछ नयापन आया या नहीं, यही भरोसे की कमी है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य संसार पर जितना भरोसा करता है, उतना भगवान पर नहीं करता। जैसे कहीं जाने वाला मुसाफिर पहले से सीट रिजर्व करा लेता है, तो उसको यह भरोसा रहता है कि ठीक समय पर सीट जरूर मिल जायगी; अतः वह निश्चिन्त हो जाता है, यद्यपि उसमें अनेकों विघ्न भी आ सकते हैं। विघ्न असम्भव नहीं है, तो भी उस पर भरोसा कर लेता है। संसार पर भरोसा करके बहुत बार धोखा खाया है एवं भगवान पर भरोसा करने वाले को कभी धोखा नहीं हुआ। यह मानते हुए भी मनुष्य भगवान पर निर्भर नहीं होता, इससे बढ़कर दुःख और आश्चर्य क्या होगा?

मनुष्य स्वयं अलग रहकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को भगवान में लगाना चाहता है, यहाँ से ही गलती होती है। प्रेम का सम्बन्ध साधक से है न कि उसके मन, इन्द्रिय और बुद्धि से। प्रेम मार्ग में चलने वाला पहले तो अपने को अपने प्रियतम के प्रेम की लालसा और बाद में प्रेम समझता है, प्रेमी प्रेम में विलीन हो जाता है। प्रेम और प्रेमी में भिन्नता नहीं रहती। अतः प्रेम मार्ग के साधक के जीवन में भगवान का प्रेम, भरोसा और कृपा सदा सजीव बने रहने चाहिये, भाव की शिथिलता नहीं होनी चाहिये।

मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ तो अहंकी विभूतियाँ हैं, उनमें प्रेम नहीं होता। प्रेम अहंमें होना चाहिये। अहंमें प्रेम की प्रबलता होने से मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ–सब उसी में विलीन हो जाते हैं। वे अहंके भाव का विरोध नहीं करते।

साधक को ध्यान पूर्वक इस बात का मनन करना चाहिये कि मैं सचमुच क्या चाहता हूँ, मेरी वास्तविक आवश्यकता क्या है? जिनके न होने पर साधक रह सकता है, जिनका वियोग अनिवार्य है, वह उसकी आवश्यकता नहीं हो सकता। सच्ची आवश्यकता उसी की है, जिसके बिना वह नहीं रह सकता, जो कभी उससे अलग नहीं होता। सोचकर यदि यह मालूम दे कि ऐसा तो एकमात्र मैं स्वयं ही हूँ तो विचार करना चाहिये, क्या मैंने कभी अपने में रमण किया या मैं संसार में ही रमण करता रहता हूँ, तब मालूम होगा कि संसार में ही रमण करता रहता हूँ। फिर विचार करने पर मालूम होगा कि जो अनन्त नित्य सौन्दर्य और अनन्त नित्य रस का भण्डार है, उसी की वास्तविक आवश्यकता है, वह है जीव का नित्य साथी, एकमात्र परमेश्वर। वह कभी जीव का साथ नहीं छोड़ता। जीव स्वयं ही संसार को अपनाकर उसे भूल गया है, उससे विमुख हो गया है।

यह मालूम होने पर साधक को मान लेना चाहिये कि जिसकी मुझे आवश्यकता है उससे मेरी देश–काल की दूरी नहीं है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये यह धारणा करना कि अमुक स्थान में जाने पर या अमुक समय में मेरी आवश्यकता की पूर्ति होगी, सर्वथा प्रमाद है। उसकी प्राप्ति वर्तमान में अभी हो सकती है। मेरे प्रमादने ही, मेरी भूलने ही मुझे उनसे विमुख कर रखा है।

जिनको अपना मानकर मैंने अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है–वे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं माता–पिता, भाई–बन्धु और पति–पत्नी आदि तथा समस्त पदार्थ सभी अनित्य है। अतः इनका वियोग अनिवार्य है। इनको अपना मानकर, इन पर विश्वास करके मैं अपने प्रभुसे विमुख हो गया हूँ।

यह निश्चय कर लेने के बाद साधक को चाहिये कि जिसकी उसको वास्तविक आवश्यकता है, परम प्रियतम प्रभुको ही अपना माने, उसीपर विश्वास करे और उसीसे प्रेम करे। जब साधक उनको अपना मान कर उनके सम्मुख हो जाय, एकमात्र प्रभुसे ही साधक का अनन्य सम्बन्ध रहे, उन्हीं की निरन्तर स्मृति रहे, तब समझना चाहिये कि प्रेम का प्रादुर्भाव हो गया।

जिनसे वियोग होना अनिवार्य है, उनकी आसक्ति ने ही मनुष्य के प्रेम को ढक रखा है। मनुष्य अनित्य वस्तुओं से सुख की आशा करके उनमें आसक्त हो गया है। इससे ही वह ईश्वर के विमुख हो गया है।

जो उसे ठुकराता है, उसी को प्राणी पकड़ता है। जिस शरीर को मन, बुद्धि और इन्द्रियों को मनुष्य सबसे अधिक अपना मानता है, वे सब इसको ठुकराते हैं अर्थात् इसका त्याग कर देते हैं तो भी यह उनका सम्बन्ध नहीं छोड़ता। भगवान को भूल जाने के कारण ही इसकी यह दुर्दशा हुई है। उसी का फल यह है कि यह शरीर में और भोगों में अहंता–ममता करके उनका स्मरण–चिन्तन करता रहता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान की घटनाओं के चिन्तन में इतना फँस गया है कि उसको नहीं छोड़ पाता।

(25)

(भाव दृष्टि और तात्त्विक दृष्टि – मन और तन का स्वरूप – भजन करने का समय – बच्चों को शिक्षा देने का ढंग – तीर्थों में किसको जाना चाहिये, वहाँ कैसा व्यवहार करें – सफाई, शुद्धता आदिका भेद; आचार और विचार में विरोध नहीं, एक–दूसरे का सहयोगी साधन है – आचार का वास्तविक स्वरूप)

प्रश्न– भाव दृष्टि और तात्त्विक दृष्टि में क्या अन्तर है?

उत्तर–विश्वास पूर्वक मान्यता अर्थात् स्वीकृति को भाव दृष्टि कहते हैं और वस्तु को विवेक पूर्वक समझ लेने का अर्थात् जानकारी का नाम

तात्त्विक दृष्टि है। दोनों के फल में कोई अन्तर नहीं है, भेद इतना ही है कि स्वीकृति का फल नित्य अनन्य रस है और जानकारी का फल अखण्ड एकरस है। इन दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न–मन और तनमें क्या अन्तर है?

उत्तर–तन से अर्थात् शरीर से जो काम लेता है उसको मन कहते हैं। जैसे मोटर और ड्राइवर का हाथ। मोटर के स्थान में शरीर है और हाथ के स्थान में मन है। वैसे ही जो मन से काम ले सके, उसको बुद्धि समझना चाहिये।

प्रश्न–भजन किस समय करना चाहिये?

उत्तर–सब कामों के अन्त में सोते समय और सोकर उठते समय एवं जो कोई काम करो उसके अन्त में भजन जरूर करना चाहिये। जो मनुष्य हरेक काम के अन्त में कम–से–कम एक बार भी निश्चित रूप से भगवान को याद कर लेता है, उसको मरते समय भगवान् जरूर याद आ जायँगे।

प्रश्न–बच्चे लोग मनमानी करते हैं, कहना नहीं मानते, उसक लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर–बच्चों से कुछ कहो मत, उनको करके दिखाओ, तुम्हारे जीवन का उन पर असर पड़ेगा। जो कुछ करना है वह चुपचाप करते रहो। कुछ दिन के बाद उनका स्वभाव बदल जायगा। अपने बचपन को भूल गये हो, उसे याद कर लो।

प्रश्न–तीर्थों में क्या करना चाहिये?

उत्तर–तीर्थ के महत्त्व को समझकर उस पर श्रद्धा करनी चाहिये, दान करना चाहिये, स्नान और भजन तथा देव विग्रहों का दर्शन करना चाहिये। साधु–संतों से मिलना और उनका सत्संग करना चाहिये। निर्बल, निर्धन और श्रद्धाहीन मनुष्य को तीर्थयात्रा नहीं करनी चाहिये। तीर्थयात्रा एक प्रकार का तप है, इसमें शारीरिक कष्ट सहन करना पड़ता है, निर्बल मनुष्य परिश्रम नहीं कर सकता। तीर्थ यात्रा में धन का खर्च अवश्य करना पड़ता है, निर्धन मनुष्य धन कहाँ से लावे, यदि ऋण करे या माँग कर ले तो उसे तीर्थ का

लाभ नहीं होता। जिसकी तीर्थो पर श्रद्धा नहीं है, वह भी तीर्थ यात्रा से लाभ नहीं उठा सकता।

प्रश्न–तीर्थों में जल के भीतर ताँबा, चाँदी या सोना चढ़ाने का माहात्म्य सुनते हैं, तो क्या चढ़ाकर ही स्नान करना चाहिये?

उत्तर–ऐसी बात अधिकांश वे ही लोग कहते हैं जो आपका चढ़ाया हुआ द्रव्य निकाल लेना चाहते हैं। अतः भीतर फेंकने की अपेक्षा बाहर में ही जिसको ठीक समझो दे देना अच्छा है। जिसमें निकालने वालों को कष्ट न हो। जो श्रद्धा पूर्वक तीर्थ में स्नान किया जाता है उसका माहात्म्य साधारण नित्य स्नान की अपेक्षा विशेष है। अतः स्नान का मन्त्र बोलकर पुष्पादि से तीर्थ की पूजा करके स्नान करना अच्छा है।

प्रश्न–पण्डे लोग तीर्थ की पूजा कराते हैं, मन्त्र का उच्चारण ठीक नहीं करते, दक्षिणा लेते हैं, इसमें क्या करना चाहिये?

उत्तर–वे लोग आपके वस्त्र और घड़ी आदि वस्तुओं की रखवाली करते हैं, आपके रहन–सहन की सुविधा भी करते हैं। अतः उनको जो कुछ दिया जाय वह उनके परिश्रम का बदला समझना चाहिये, देने वाले को वह भार रूप मालूम नहीं होना चाहिये। यदि प्रत्येक आदमी के पीछे कोई टैक्स लगाया जाता तो देते या नहीं? वैसे ही दे देना चाहिये। यहाँ तो पण्डे लोग बहुत थोड़े में ही खुश हो जाते हैं, कोई लम्बा–चौड़ा खर्च नहीं है।

प्रश्न–चौके वगैरह में शुद्धता और छुआछूत मानना चाहिये या नहीं?

उत्तर–सफाई का सम्बन्ध शरीर से है और शुद्धता का सम्बन्ध मन से है। अतः मन में, मैं बहुत शुद्धता से रहता हूँ, दूसरे नहीं रहते, इस अभिमान को रखकर दूसरों को नीचा समझना या उनसे घृणा करना उचित नहीं है। ऊपर की सफाई के लिये शुद्धता और सफाई तथा छुआछूत का व्यवहार रखना बुरा नहीं है, अपितु आवश्यक है, परंतु भेद क्रिया में होना चाहिये। प्रेम में भेद नहीं होना चाहिये। मन में राग–द्वेषादि विकारों का न रहना ही सच्चा आचार है। केवल ऊपर की सफाई ही आचार नहीं है। बाहर की पवित्रता भी भीतर की शुद्धता की ओर बढ़ने के लिये ही है।

प्रश्न–आचारी बड़ा है कि विचारवान् ?

उत्तर–इनमें बड़ा–छोटा कोई नहीं है, अपने–अपने स्थान पर दोनों बड़े हैं। आचार और विचार में कोई विरोध नहीं, आपस में एक–दूसरे का सहायक है। आचार शुद्धि का साधन है। उससे जीवन में पवित्रता आती है। चित्त के दोषों का नाश होता है। विचार का काम निरभिमानता अर्थात् भिन्नता को मिटाकर एकता कर देना है।

आचार हमें घृणा नहीं सिखाता; क्योंकि दोषों के मिट जाने का नाम ही शुद्धि है। दोष मनुष्यों में स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि जन्म लेते ही कोई झूठ नहीं बोलता है, माता–पिता आदि से सीखकर झूठ बोलता है। बच्चे को जो कोई प्यार से रखता है, वह उसी में स्नेह करने लगता है, उसमें भेद–भाव की अपने–पराये की कल्पना पहले नहीं होती। दूसरों के व्यवहार से सीखता है। पैदा होते ही किसी के मन में बुरे संकल्प नहीं उठते। इससे यह सिद्ध हुआ कि दोषों का त्याग करना कठिन नहीं है।

अपनी जानकारी के विरुद्ध काम करना ही अशुद्धि है। जो काम मनुष्य अपने लिये नहीं चाहता, वह दूसरों के साथ न करे। जो अपने लिये अच्छा समझे, वह दूसरों के लिये करे–यही विचार का सदुपयोग है, इससे व्यवहार में शुद्धि आती है। व्यवहार की शुद्धि से विवेक प्रकाशित होता है। इस प्रकार एक–दूसरे के सहायक हैं। वर्तमान विवेक और शक्ति का ठीक ठीक उपयोग करने से भूत, भविष्य सब ठीक हो जाते हैं।

वास्तविकता को जान लेने का नाम ही विचार है। शरीर को साफ कर लिया, किन्तु मन बुद्धि गन्दे हैं तो वह अधूरा स्नान है।

विचार से यदि सन्देह की निवृत्ति नहीं हुई तो वह विचार नहीं है। विवेक शक्ति विवाद करने के लिये नहीं है। इसी प्रकार अपने को पवित्र और दूसरों को अपवित्र मान कर अभिमान करना आचार नहीं है, शरीर में और मन में शुद्धि बढ़ने का नाम आचार है।

इस पर एकनाथ जी महाराज की एक घटना याद आ गयी। एक समय की बात है एकनाथजी के पिता का श्राद्ध–दिन था। ब्राह्मण–भोजन

के लिये भाँति–भाँति के मिष्टान्न तैयार हो रहे थे। उसी समय उनके घरके पास से बहुत से अछूत घराने के लोग जा रहे थे। स्वादिष्ट पक्वान्न की सुगन्ध पाकर उनमें से एक ने कहा–'कितना अच्छा स्वादिष्ट भोजन बन रहा है, बड़ी सुहावनी सुगन्ध आ रही है।' दूसरे ने कहा–'भाई! यह तो ब्राह्मणों के लिये बन रहा है, तुम मन क्यों चला रहे हो? हमारे भाग्य में ऐसा अन्न कहाँ ?' उनकी बातचीत एकनाथ जी महाराज के कानों में पड़ गयी। उन्होंने सबको बुलाकर सब पक्वान्न प्रेम पूर्वक उन लोगों को खिला दिया। इस बात का जब दूसरे ब्राह्मणों को पता लगा, तब उन्होंने आपस में एकनाथजी की बहुत निन्दा की और यह निश्चय किया कि इनके घरपर कोई ब्राह्मण भोजन नहीं करे। एकनाथ जी ने ब्राह्मणों को बहुत समझाया कि वह अन्न उच्छिष्ट हो गया था, अछूतों ने उसकी गन्ध ले ली थी, इसलिये वह ब्राह्मणों के काम का नहीं रहा था। अब आप लोगों के लिये दुबारा पवित्र भोजन तैयार कराया गया है, परन्तु ब्राह्मणों ने अपना हठ नहीं छोड़ा। उनके द्वार पर पहरा देने लगे कि कोई ब्राह्मण भूला–भटका भी वहाँ भोजन न कर ले। भीतर एकनाथ जी के पितर साक्षात् प्रकट होकर भोजन कर रहे थे। भोजन करके जब उठे, तब उन्होंने उस समय की प्रथा के अनुसार 'हर हर महादेव की आवाज लगायी। पहरे पर खड़े हुए ब्राह्मणों ने यह घटना देखकर बहुत आश्चर्य किया। यह उनके सच्चे आचार का प्रभाव था।

मानव–जीवन में आचार की बड़ी आवश्यकता है, आचार से पतित तो मनुष्य नहीं, पशु है। आचार से अतीत भगवान् हैं। मनुष्यता तो वही है, जो आचार और विचार युक्त है।

अंग्रेज लोग आचार को न मानते हों, ऐसी बात नहीं है, वे हम लोगों से अधिक मानते हैं, परन्तु अपने ढंगसे मानते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से मानते हैं, वे ऊपर की सफाई कम नहीं रखते। किसी भी खाने की चीज को छूते नहीं, भोजन की जगह हमारे पूजा घरों से भी अधिक स्वच्छ रखते हैं। किसी प्रकार की गन्दगी वहाँ नहीं रहती है। मक्खी और मच्छर तक को

नहीं बैठने देते। दूध दुहने, बोतलों में भरने, बन्द करने में ईमानदारी और सफाई का पूरा ध्यान रखते हैं। वस्तु की और बनाने की सफाई पर उनका पूरा ध्यान रहता है।

हम लोग आचार को मानते हैं, परन्तु उसको पूरा–पूरा काम में नहीं लाते। हम मौज से भोजन करते रहें, हमारे पड़ोसियों को खाने के लिये न मिले और भी आस–पास में भूखे लोग रहें तो वह भोजन पवित्र नहीं कहा जा सकता। भोजन की शुद्धि के लिये आवश्यक है सत्यता पूर्वक उपार्जन किया हुआ अन्न, पवित्र वस्तु, पवित्रता से बनाना और पवित्र भाव से खाना, ऐसा भोजन ही पवित्र कहा जा सकता है।

आचार का अभिप्राय बाहर और भीतर की पवित्रता बढ़ाना है। आजकल आचार के नाम पर जो यह अभिमान करते हैं कि मैं बड़ा हूँ और दूसरे छोटे हैं, यह आचार नहीं है।

भगवान के रहने का असली मन्दिर मन है, उसे पवित्र रखना चाहिये। शरीर जीव का मन्दिर है, उसे भी पवित्र रखना चाहिये।

श्रम युक्त शरीर को आलसी बना देना, मन को राग–द्वेष से भर देना, बुद्धि को विवेकहीन बना देना यही अशुद्धि है, इसको दूर करना वास्तविक आचार है।

भोगवासना का त्याग करने से जीवन पवित्र होता है। मन में भोगवासना उदय होते ही बुद्धि मन की ओर, मन इन्द्रियों की ओर तथा इन्द्रियाँ विषयों की ओर खिंच जाते हैं, इससे स्वाधीनता और चिन्मयता–का नाश होकर जडता, पराधीनता और शक्तिहीनता आ जाती है।

(26)
(वीर पुरुष और वीरता का स्वरूप)

वासनारहित होते ही इन्द्रियाँ विषयों से हट कर मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अहंमें विलीन हो जाती है, अहं ईश्वर का प्रेम बनकर उनसे मिल

जाता है। तब जीवन में चिन्मयता, दिव्यता, स्वाधीनता, मुदिता, निर्भयता आदि गुण अपने–आप आ जाते हैं।

कल किसी भाईने कहा था कि आपके सत्संग में वीरता की बातें नहीं होतीं, इसलिये आज उसी विषय में बातचीत हो जाय, तो अच्छा है। अच्छा भाई, बताओ तुम्हारी समझ में वीर कौन है? तुम किसको वीर मानते हो?

श्रोता–जैसे भगत सिंह वीर था।

स्वामीजी–भगत सिंह वीर अवश्य था, परन्तु वीरता के साथ धीरता और गम्भीरता भी चाहिये। केवल वीरता का ही आदर्श स्थापन करने से काम नहीं चलता। मेरी समझ में वीर वह है जिसमें पराधीनता, जडता और शक्तिहीनता न हो, अर्थात् जो वीर, धीर और गम्भीर भी हो, वही असली वीर है। विवेकहीन वीरता से लाभ के बदले भारी नुकसान हो सकता है। गाँधीजी वीर थे। उनमें वीरता के साथ–साथ धीरता और गम्भीरता भी थी। वास्तव में सबसे बड़ा वीर वह है जिसने अपने पर विजय प्राप्त कर ली हो? जो मन और इन्द्रियोंपर शासन कर सकता हो। जिसपर इनका शासन न हो अर्थात जो मन और इन्द्रियों कि अधीन

प्रश्न–धीर और गम्भीर का क्या अर्थ है?

उत्तर–जिसके मन में विधान का अर्थात् कर्तव्य का पूरा–पूरा आदर हो, अपने सिद्धान्त से कभी विचलित न हो, अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहे, वह धीर है अर्थात् विवेकशील और धैर्य युक्त मनुष्य ही धीर कहा जाता है।

जो किसी की ओर आकर्षित न हो, किन्तु अपने प्रतिपक्षी को भी अपनी ओर आकर्षित कर सके। अपना भाव प्रकट न करे। हरेक काम गहराई से सोचकर करे, वह गम्भीर कहा जाता है।

भाव यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का आक्रमण जिसको पराजित न कर सके एवं सुख दुःख का आक्रमण जिस पर अपना प्रभाव नहीं कर सके, वही वीर, धीर और गम्भीर है। धीरता और गम्भीरता से रहित वीरता उस वीर का विनाश कर देती है। उस वीर को खा जाती है। उसकी वीरता का विकास नहीं हो पाता।

धीर मनुष्य यदि अपने विरोधी पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो भी उस पर क्रोध नहीं करता। धैर्य पूर्वक कर्तव्य का पालन करता है। जिस पर हर्ष और विषाद दोनों अपना प्रभाव नहीं दिखला सकते, वही धीर है।

पशु–बल का समर्थक कभी वीर नहीं हो सकता। जो वीर निर्बलों के दुःख का कारण होता है, वह वीर नहीं है। वीर तो वही है जो निर्बलों की रक्षा करे। अपने से निर्बलों को दुःख देने के लिये तो खूखार शेर भी वीर होता है, परन्तु उसमें धीरता और गम्भीरता नहीं होती।

इन्द्रिय–जय, सेवा तथा सत्य की खोज–ये तीनों गुण गाँधीजी में थे। इसलिये वे वीर थे। जिसको कोई सम्मान, अधिकार आदि के लोभ से या किसी प्रकार के भय से बदल न सके, जिस पर किसी प्रकार का मोह अपना प्रभाव नहीं जमा सके, जो सब प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए अविचल रहे, वह वीर, धीर और गम्भीर कहा जा सकता है। जो पशुबल के द्वारा अधिकार प्राप्त करके निर्बलों को सताते हैं, दूसरों की माँ–बहिनों की इज्जत बर्बाद करते हैं, अल्पसंख्य कों के साथ बुरा व्यवहार करते हैं, सम्प्रदाय के अभिमान में आकर भिन्न सम्प्रदाय पर अत्याचार करते हैं, वे वीर नहीं कहे जा सकते। अतः यदि कोई यह समझे कि मुसलमानों को मारने वाला हिन्दू वीर है या हिन्दुओं को मारनेवाला मुसलमान वीर है, तो उसकी भूल है। यदि मारने वाला ही वीर माना जाय, तब तो एक एटम बम को सबसे अधिक वीर मानना चाहिये, परन्तु ये वीरता के लक्षण नहीं हैं।

जो वीर बनना पसन्द करे, उसे चाहिये कि मातृ शक्ति का अर्थात् स्त्री–जाति का खूब आदर करे। हर प्रकार से उसकी रक्षा करे। अपने जीवन में असावधानी न आने दे। जब तक प्राण रहे तब तक अपने सत्य पर डटा रहे, विचलित न हो।

जो दूसरे के हृदय, मन और बुद्धि पर विजय प्राप्त कर ले, वही वास्तव में वीर है। ऐसा वीर वही हो सकता है, जिसका विवेक और विश्वास ही जीवन बन गया है। जिसके जीवन में पराजय का नाम–निशान भी नहीं रहा है।

जिसकी भावना, चरित्र, विश्वास, विवेक, संकल्प और पराक्रम सब–के–सब एक होकर जीवन बन जाये, वही वीर कहलाने योग्य है। ऐसा वीर एक दुर्बल मनुष्य भी बन सकता है। वीरता के लिये शरीर के बल की आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन जब स्वर्ग में गया था, तब उर्वशी को क्या उत्तर दिया था? माता! आप मुझे ही पुत्र समझ लो। मैं आपको मेरे–जैसा दूसरा पुत्र देने में समर्थ नहीं हूँ। अनेक प्रकार से प्रलोभन देने और भय दिखलाने पर भी अर्जुन ने उर्वशी का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। यह है वीरता का नमूना।

जो अपने पर नेतृत्व कर सके, जो बुद्धि का, धर्म का और विश्वास का अपराधी न हो, अपने से दुःखियों का दुःख सहन न कर सके, वह उदार मनुष्य ही सच्चा वीर है।

किसी के अन्याय और अत्याचार को सहन न करना ही वीरता है। इसके लिये मनुष्य को चाहिये कि वह उदार चरित्र बने, स्वाधीन हो, संयमी हो तथा मन, बुद्धि और शरीर के अधीन न हो। प्रभु को संसार में अपने से दूर न होने दे अर्थात् सबके साथ भगवान के नाते एकता स्थापित करे।

जो पशुबल के द्वारा निर्बलों पर विजयी होते हैं, जो अपनी समझ और योग्यता धन के बदले में या अधिकार के बदले में बेच सकते हैं एवं अपने समान सुखी और समृद्धि–सम्पन्न दूसरे को नहीं देख सकते, वे तो वीर क्या, मनुष्यता से भी दूर हैं।

केवल हाथ से भी काम नहीं चलता और केवल दिमाग भी बिना हाथ के काम नहीं कर सकता। कोई भी कार्य करने के लिये हाथ और दिमाग दोनों चाहिये। हिटलर हाथ था अर्थात् उसमें विवेकहीन वीरता थी। गाँधीजी दिमाग थे अर्थात् उनमें बुद्धिबल अधिक था।

दूषित चरित्र पर अच्छे चरित्र की विजय हो अर्थात् प्राण चले जाएँ, पर चरित्र सुरक्षित रहे; यह वीरता है। स्वार्थ और राग–द्वेष फैलाकर जीवन को खराब करना वीरता नहीं है।

मनुष्य को चाहिये कि अपना निर्माण करे, उसके द्वारा अपने राष्ट्र, समाज और संसार का निर्माण करे। अपने पर अपना आधिपत्य करे; की हुई भूल को पुनः न दुहराये, संसार का हित और उसको प्रसन्न करे अर्थात् उसके अधिकार की रक्षा करे। किसी के अधिकार का अपहरण न करे। इस प्रकार जिसका जीवन दूसरों की आवश्यकता बन जाता है, जो दूसरों के हृदय पर राज्य करता है, वह वीर है और वही हिन्दू है।

समाज को उसकी आवश्यकता होती है, जिसमें स्वार्थ भावना न हो। जिसमें श्रम, संयम, सदाचार सेवा और त्याग हो।

(27)

(निरन्तर भगवत्स्मृति का उपाय – भगवान पर विश्वास और उनका सम्बन्ध – जीव का स्वभाव बालक के समान और भगवान् माता के समान; जगत् खिलौना)

प्रश्न– ध्रुवा स्मृति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त हो?

उत्तर– ध्रुवा स्मृति से आपका क्या अभिप्राय है?

प्रश्न– भगवान का स्मरण करना चाहते हैं, मन दूसरी ओर चला जाता है, भगवान में अचल कैसे हो?

उत्तर–जब यह बात समझ में आ जाय कि जो कुछ सत्यता, प्रियता और ज्ञान जहाँ कहीं दीखता है, वह सब उसी की महानता है, जैसे प्रत्येक मिठाई में मीठा पन चीनी का है। लड्डू, जलेबी, बरफी, रसगुल्ला और कलाकन्द आदि सभी चीनी को लेकर ही मीठे हैं, तो सब समय निरन्तर उसकी स्मृति रह सकती है। मनुष्य का सबसे अधिक प्रेम उससे होना चाहिये, जो उसके निकटतम है। यह नियम है कि जिसमें प्रेम होता है उसकी स्मृति अपने–आप होती है। अतः साधक को देखना चाहिये कि मेरे अत्यन्त समीप कौन है? क्योंकि सुन्दर जीवन को विकसित करने के लिये अपने निकटतम को देखना परम आवश्यक है। विचार करने पर मालूम होगा

कि हाथ–पैर, आँख आदि इन्द्रियों को जोड़कर भी मनुष्य प्राण को रखना चाहता है, अतः उनकी अपेक्षा भी प्राण अधिक निकट हैं। प्राणों से अत्यन्त निकट वह है जिसके लिये प्राणों का भी त्याग किया जा सके। वह है अपना नित्य साथी परमेश्वर, जो जीव से कभी अलग नहीं होता। वही जीवका अपना है। जो साधक दूरी से बचकर अत्यन्त निकटतम का होकर रहता है, उसकी और सबका आकर्षण हो जाता है। अत्यन्त निकटता में सब कुछ है, क्योंकि वही सबका केन्द्र है, जो अत्यन्त निकट है।

अतः साधक को चाहिये कि जो पर हैं अर्थात् दूर हैं उनसे द्वेष न को, परन्तु विमुख हो जाय और अपने को उनके समर्पण कर दे जो अपने निकटतम हैं। इस प्रकार विश्वास पूर्वक भक्तिभाव की स्थापना की। इस भाव का कभी नाश नहीं होता। जो वास्तु अध्यास के द्वारा प्राप्त होती है, उसका कालान्तर में नाश हो जाता है। विश्वास का कभी नाश नहीं होता। विश्वास पूर्वक अपने निकटतम का हो जाने पर प्रेम, बोध और योग अपने–आप मिल जाते हैं। उसके बाद ध्रुवा स्मृति हो जाती है।

जो निकटतम नहीं हैं, जिनका वियोग अनिवार्य है, उनका विश्वास ही नकली विश्वास है, उसे छोड़ देना चाहिये।

गलत ज्ञान जानने से अर्थात् विवेक से मिटता है। जिसके न रहने पर भी मैं रहता हूँ, वह वस्तु न तो मैं हूँ और न मेरी है, यह बात विचार करने पर समझ में आ जाती है। अतः गलत ज्ञान को जानकर मिटाना चाहिये, सीख कर नहीं। सीख कर मिटायी हुई गलती सचमुच नहीं मिटती। उसका जीवन पर कोई असर नहीं पड़ता। जीते–जी मर जाना अर्थात् शरीर से अपने को अलग अनुभव कर लेना ही अमरत्व है और यही आनन्द है। इसके होने पर अभाव और दुःख सदा के लिये मिट जाते हैं।

जब मनुष्य समुद्र की ओर देखता है, तब उसे समुद्र–ही–समुद्र दीखता है और पीछे की ओर देखने से स्थल–ही–स्थल नजर आता है; उसी प्रकार संसार की ओर देखने से संसार–ही–संसार दीखेगा और संसार की ओर पीट कर लेने पर प्रभु दिखलायी देंगे।

विवेकयुक्त जीवन ही मानव–जीवन है, कर्म द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तु को प्राप्त करने में मनुष्य पराधीन है, परन्तु विश्वास और विवेक द्वारा प्राप्त होने वाले सर्वोत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करने में मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। जगत से विमुख होकर ईश्वर से अनन्य प्रेम करना यही मानवोचित उत्कृष्ट जीवन है।

वे हमारे प्रियतम प्रभु असीम हैं, अनन्त हैं। असीम का वर्णन नहीं हो सकता, परन्तु उनको प्राप्त किया जा सकता है। वे जीव को उसके साधन से नहीं; किंतु स्वयं अपनी कृपाशक्ति से द्रवित होकर मिलते हैं।

जीव का स्वभाव तो बालक–जैसा है और प्रभु का स्वभाव माँ के सदृश होता है। जब यह जीव बालक की भाँति प्रभु को पाने के लिये व्याकुल होकर रोने लग जाता है, तब प्रभु में करुणा उत्पन्न हो जाती है और वे जीव को निहाल कर देते हैं। जगत् खिलौना है। जब तक जीव बालक की भाँति इस जगत्रूप खिलौने से खेलता रहता है, प्रभु के प्रेम रस की इसको भूख नहीं लगती, उसके लिये यह व्याकुल नहीं होता, तब तक भगवान् भी तमाशा देखते रहते हैं, उसे मिलते नहीं। पर जब साधक को बालक की भाँति भूख लग जाती है अर्थात् जैसे भूख लगने पर बालक माँ का दूध पीने के लिये व्याकुल हो जाता है, खिलौने से मोह छोड़कर, उसको फेंक कर माँ को पुकारने लग जाता है, वैसे ही जब प्रभु के प्रेम रस की भूख लग जाती है और इस जगद्रूप खिलौने से विरक्त होकर साधक प्रभु के प्रेम रस के लिये व्याकुल होकर उनको पुकारने लगता है, तब प्रभु भी करुणा भाव से व्याकुल हो उठते हैं। फिर विलम्ब नहीं कर सकते। तत्काल ही प्रेमी साधक को अपने प्रेम का रस प्रदान कर देते हैं।

कर्म सीमित होता है, इसलिये उसका फल भी कर्म के अनुरूप सीमित ही मिलता है, परन्तु प्रभु अनन्त हैं, उनकी कृपा भी अनन्त है, अतः उनकी कृपा से जो कुछ मिलता है, वह भी अनन्त मिलता है।

प्रभु की प्राप्ति का साधन भी प्रभु की कृपा से ही मिलता है। ऐसा साधक को मानना चाहिये और अपने साधन में सद्भाव रखना चाहिये।

साधन में अटल विश्वास पूर्वक सद्भाव होने से ही साध्य की प्राप्ति होती है।

(28)
(दीनता और अभिमान मिटाने का उपाय – मन विश्वास का यन्त्र है, विश्वास होता है मनके प्रकाश में – बिना शरीरका जीवन)

प्रश्न–दीनता और अभिमान कैसे मिटे?

उत्तर–जहाँ कामना है, वहाँ सत्य की प्रतिष्ठा कठिन ही नहीं असम्भव है। साधक को चाहिये कि यदि कोई उसकी मान्यता या सिद्धान्त का खण्डन करे तो घबराये नहीं। बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे सुनता रहे। यदि अपने सिद्धान्त की निर्बलता मालूम हो तो उसे मिटा दे। यदि वास्तव में निर्बलता है तो उसको ढककर रखने से कोई लाभ नहीं है।

जो साधक किसी प्रकार के अभाव में दीन नहीं होता, अर्थात् उसकी चाह नहीं करता और प्राप्त वस्तु या बल का अभिमान नहीं करता अर्थात् उसे अपना नहीं मानता, सब कुछ अपने प्रभु का मानता है, वह भक्त है। चाह रहित होने से ही दीनता मिटती है। जहाँ किसी प्रकार के सुख का उपभोग होता है, वहीं मनुष्य चाह की पूर्ति के सुख में आबद्ध हो जाता है और पुनः नयी चाह उत्पन्न हो जाती है, उसकी दीनता का अन्त नहीं होता।

जहाँ संकल्प की उत्पत्ति और पूर्ति नहीं है, वहाँ दीनता और अभिमान के लिये कोई स्थान नहीं है।

जब तक मनुष्य शरीर से सम्बन्ध रखता है, तब तक दीनता और अभिमान बने रहते हैं। जैसे दीवाल और छत बन जाने से कमरा महाकाश से अलग हो जाता है एवं महाकाश महान् होते हुए भी कमरे का आकाश किसी से बड़ा और किसी से छोटा हो जाता है, इसी प्रकार अपने नित्य–सम्बन्धी नित्य–आत्मस्वरूप प्रभु को भूलकर जब से अपने को अलग मानने लगा, तबसे इसमें दीनता और अभिमान आदि दोष आ गये। यह एक

से अपने को बड़ा समझता है, इसलिये इसमें अभिमान आता है, दूसरे से छोटा मानता है, इसलिये दीनता आती है।

संकल्प पूरा होने तक दीनता बनी रहती है, संकल्प पूरा होते ही अभिमान आ जाता है और नये संकल्पों का जन्म हो जाता। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीर से अलग होकर जीना ही नित्य आनन्दमय जीवन है। शरीर से असंग हो जाने पर सुख–दुःख की जड़ कट जाती है। यदि कोई सोचे कि स्थूल शरीर का नाश कर देने से मैं शरीर रहित हो जाऊँगा, तो उसकी भूल है; क्योंकि सूक्ष्म और कारण शरीर का नाश इस स्थूल शरीर के नाश से नहीं होता। इसलिये पुनः जन्म होकर नये स्थूल शरीर से उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। इस प्रकार संकल्प और चाह का गोल चक्र बना रहता है। सम्बन्ध और चाह रहते हुए बिना शरीर का जीवन नहीं मिलता।

यदि कोई कहे कि जब शरीर के रहते हुए साधन होता है, तब उससे रहित होने पर शरीर से साधन कैसे होगा? तो समझना चाहिये कि शरीर द्वारा होने वाली क्रिया का विरोध नहीं है। क्रिया तो स्वाभाविक है। विरोध तो शरीर की कामनाका और शरीर से सम्बन्ध रखने का है। वासना रहित होकर शरीर और संसार के हित की भावना से शरीर द्वारा सब काम किये जा सकते हैं। शरीर रहते हुए उसके द्वारा शरीर और संसार का हित करते रहना, चले जाने पर उसका कोई मोह नहीं एवं चले जाने का भय भी नहींय शरीर रहे तो अच्छा, न रहे तो भी अच्छा–इस भावना से जो क्रिया होती है, वह शरीर में अभिमान उत्पन करने वाली नहीं होती। वह तो स्वाभाविक साधन रूप होती है। उससे पहले के कर्म–संस्कारों का नाश होता है। इस प्रकार की क्रिया से कर्ता का वस्तु, अवस्था और परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये वह बन्धन कारक कर्म नहीं है।

यदि कोई कह कि विश्वास भी तो मन में ही होता है। जब मन ही नहीं रहेगा, तब विश्वास किसमें होगा। इसका उत्तर यह है कि विश्वास मन में नहीं होता। मन तो विश्वास को प्रकाशित करने वाला एक यन्त्र है।

विश्वास तो उसमें होता है, जिससे मन प्रकाशित होता है। जैसे बिजली के बल्ब में प्रकाश नहीं है। उसके द्वारा तो प्रकाश की उपलब्धि होती है, वह केवल मात्र प्रकाश को प्रकट करने वाला यन्त्र है। प्रकाश का केन्द्र तो पावर हाउस है, उसके साथ जिसका सम्बन्ध होता है, वही यन्त्र उसकी सत्ता से काम करने लगता है। इसी प्रकार सबका केन्द्र एकमात्र परमेश्वर है। इसी प्रकार बुद्धि का धर्म विवेक या बोध नहीं है, उसमें तो अविवेक भी रहता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीर से सम्बन्ध छोड़ देने के बाद भी बिना शरीर का जीवन रहता है और उसमें क्रिया रहते हुए भी कर्म नहीं रहते, परन्तु रस रहता है।

वर्तमान शरीर युक्त जीवन जीवन नहीं है, जीवन की साधन–सामग्री है। शरीर केवल साधन के लिये ही मिला है। साधन प्राप्त हो जाने पर शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है।

(29)
(अभिमानका कारण)

प्रश्न–अभिमान का कारण क्या है?

उत्तर–कुछ लोग धन कमाने वाले होते हैं और कुछ लोग धन का उपभोग करने वाले होते हैं, जो कमाते हैं, वे प्रायः धन का उपयोग नहीं कर पाते, वे तो उसके कमान, सुरक्षित रखने और उसकी व्यवस्था करने आदि में ही लगे रहते हैं। पारिवारिक लोगों की ओर से यह खयाल बना रहता है कि यह अयोग्य है, इत्यादि। धन का उपभोग करने वाले व्यक्ति उसका उपभोग करते रहते हैं, इसलिये धन कमाने वाले को उतना धन का अभिमान नहीं होता, जितना धन का उपभोग करने वालों को होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य सुख का उपभोग करता है, उसे ही अभिमान होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि उपभोग ही अभिमान का हेतु है, वस्तुओं का होना नहीं।

(30)

(इच्छाओं के नाश का उपाय – सन्तोष–प्राप्ति का उपाय – गुरुतत्त्व का विवेचन – जीने की आशा का त्याग और भगवत्प्राप्ति की लालसा का महत्त्व)

प्रश्न–इच्छाओं का नाश कैसे हो?

उत्तर–इच्छाएँ ईश्वर की कृपा से ही मिट सकती हैं, मनुष्य की क्या सामर्थ्य है जो इच्छाओं को मिटा सके। अतः दृढ़ विश्वास पूर्वक अपने–आपको ईश्वर के समर्पण करके उन्हीं पर निर्भर हो जाना चाहिये।

'होता है', 'है' 'चाहिये'–इन तीनों में बड़ा अन्तर है। 'होता' वही है जो होने वाला है। इसमें मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। वास्तव में जो 'है' उसका कभी अभाव नहीं होता; ऐसा एक परमेश्वर ही है, दूसरा नहीं। 'चाहिये' की व्याख्या लम्बी–चौड़ी है। भिन्न–भिन्न मनुष्यों को भिन्न–भिन्न वस्तु और परिस्थिति चाहिये। चाह की कभी पूर्ति तो होती नहीं। भगवान की कृपा से चाह को मिटाया जा सकता है।

प्रश्न–सन्तोष कैसे हो?

उत्तर–जैसे पिता अपनी सन्तान को योग्य बना देने पर अपने कर्तव्य की पूर्ति से पितरों से उऋण होकर सन्तुष्ट हो जाता है वैसे ही जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करके संसार के अधिकार को पूरा कर देता है; उससे उऋण हो जाता है, वह सन्तुष्ट हो जाता है।

प्रश्न–गुरु कैसे मिले?

उत्तर–वास्तव में गुरु वही है, जिससे साधक को अपने लक्ष्य का और कर्तव्य का ज्ञान हो। इसके लिये पहला गुरु अपना विवेक है। जो उसका आदर नहीं करता, उसको सच्चा गुरु मिलना मुश्किल है। अपने विवेक का आदर करके जब मनुष्य योग्य बन जाता है, तब उसके गुरु बनने को बहुत

लोग तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार विख्यात गुरु के शिष्य बहुत होते हैं और विख्यात शिष्य के गुरु बनने को बहुत लोग तैयार हो जाते हैं, क्योंकि सुन्दर वस्तु से सभी सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं। बुरी वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ता।

आजकल न तो पहले–जैसे गुरु देखने में आते हैं और न वैसे शिष्य ही देखे जाते हैं। सबसे श्रेष्ठ गुरु तो वे होते हैं, जो शिष्य में अपनी शक्ति का संचार करते हैं। जैसे परमहंस जी ने विवेकानन्द में किया। एक घटना है कि एक साधक मुक्ति की तीव्र इच्छा से गुरु की खोज में पहाड़ों पर और जंगलों में फिर रहा था। एक जगह उसे एक महात्मा के दर्शन हुए। वह वहाँ जाकर बैठ गया। महात्मा ने पूछा– 'तुमको क्या चाहिये?' उसने कहा–'मुक्ति।' महात्माने पूछा– 'तुम्हें बन्धन ही क्या?' इस बात को सुनकर वह चौबीस घण्टे बैठा रहा। उसे सन्तोष हो गया।

गुरु का काम यही है कि साधक जो साधन करता है, उसी को सजीव बना दे अर्थात् उस साधन में जो त्रुटि हो उसे दूर करके उसे उज्ज्वल बना दे। उसमें कोई सन्देह हो तो उसे मिटा दे। जीने की आशा, पाने की आशा, करने की आशा और भोगने की आशा–इन आशाओं ने मनुष्य को ईश्वर से दूर कर दिया, वर्तमान में अपने प्रभु से मिलने की लालसा उत्पन्न नहीं होने दी और संसार से सच्चा वैराग्य नहीं होने दिया।

सबसे अधिक बाधक तो जीने की आशा है, अन्य सब आशाएँ इसी के आश्रित रहती हैं। शरीर और संसार के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान न होने के कारण जीने की आशा है।

यह जीने की आशा एकमात्र प्रमाद से ही सुरक्षित और जाग्रत् रहती है। नहीं तो, विचार करने पर यह कौन नहीं जानता कि मैं काल का चबेना हूँ। यद्यपि इसमें किसी को सन्देह नहीं है, फिर भी जीने की आशा सभी करते हैं। इससे बढ़कर दूसरा प्रमाद क्या होगा?

सबसे बड़ी गलती मनुष्य की यही है कि उसने अपनी जानकारी का अनादर करके उससे मुँह मोड़ रखा है। अपने प्रभु की प्राप्ति मनुष्य को जब

चाहे तभी–वर्तमान में ही हो सकती है; क्योंकि उससे इसकी देश, काल या जाति से किसी प्रकार की भी दूरी नहीं है। फिर भी अनन्तकाल से प्राणी उसे भविष्य की आशा पर छोड़ता आया है एवं जिनसे इसकी देश–काल की बहुत दूरी है तथा जो वस्तु इसकी जाति की नहीं है, उसके लिये प्रयत्न करता है।

जिसको जीने की आशा नहीं रहती, वह कितना व्याकुल हो जाता है, यह तब मालूम होता है, जब हम किसी ऐसे कैदी को देखते हैं, जिसको फाँसी का हुक्म हो चुका है। यद्यपि अपील में उसकी यह सजा छूट सकती है एवं अन्य किसी आकस्मिक घटना से वह बच सकता है, इसकी गुंजाइश है तो भी उस समय उसका ऐसा परिवर्तन हो जाता है, जिससे उसको कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पर व्यक्ति के लिये तो फाँसी की वह सजा निश्चित की हुई है, जिसकी कोई अवधि नहीं। जब चाहे जीवन समाप्त कर दिया जाय। अतः साधक को कभी जीने की आशा नहीं करनी चाहिये। जब तक शरीर है, तभी तक वर्तमान में ही अपने प्रभु के लिये व्याकुल हो जाना चाहिये, जीवन पर भरो सा करना बड़ी भारी भूल है।

जब तक जीने की आशा रहती है, तब तक मनुष्य भविष्य में कुछ प्रयत्न की आशा, साधन करने की आशा और भोगने की आशा नहीं छोड़ सकता।

वास्तव में वर्तमान की साधना ही भविष्य को सफल बना सकती है। जो वर्तमान में साधन परायण हो जाता है, वह मौत से नहीं डरता। प्रत्युत उसकी बाट देखता हुआ प्रसन्न रहता है। वह मरने से नहीं डरता; क्योंकि जिस काम के लिये उसे शरीर मिला था वह पूरा कर लिया, फिर घबराहट कैसी?

किंतु जिसने वर्तमान में कुछ नहीं करके भविष्य पर छोड़ दिया है, जिसने जाने की तैयारी नहीं की, उसको मौत से डरना पड़ता है। वह मौत आने पर घबराता और पश्चात्ताप करता है, परंतु उस समय कुछ नहीं कर पाता।

मनुष्य की सबसे बड़ी शक्तिहीनता, हृदय की दुर्बलता यही है कि वह जो जानता है, उसे भी कर नहीं पाता।

साधक को चाहिये कि जीवन काल में ही जीवन से निराश हो जाय, ऐसा भाव उत्पन्न कर ले कि जीवन रहे तो भी अच्छा और न रहे तो भी अच्छा। अपने जीवन के प्रोग्राम को पूरा कर डाले। उसे विचार करना चाहिये कि मुझे अब कौन–सा काम करना बाकी है, जिसके लिये जीना है और कितना जीना है। क्या जीना अपने अधिकार में है? यदि नहीं, तो जो भी काम करना है, उसे जल्दी पूरा करके तैयार हो जाना चाहिये। फिर मृत्यु का भय नहीं रहेगा।

साधक को देखना चाहिये कि मेरी जो आवश्यकता है, उसकी पूर्ति के साधन में मैं लगा हुआ हूँ या नहीं। उसे जानना चाहिये कि भोगों पर मेरा अधिकार नहीं है। भोग–सुख का आरम्भ तो प्रिय है, परन्तु उसका अन्त हमेशा अप्रिय होता है। यह जान लेने पर भोगों में अरुचि हो जायगी।

साधक को करने योग्य काम पूरा कर देना चाहिये। काम को भविष्य के लिये जमा नहीं रखना चाहिये। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में योग हो जाना चाहिये। काम के अन्त में राम की प्राप्ति होनी चाहिये। तभी प्रवृत्ति और कामना के अन्त की सफलता है।

काम का स्वरूप है परिवर्तनशील और सीमित सुन्दरता की आसक्ति, इसे जानना चाहिये।

राम का काम तो काम को प्रकाशित करना है उसे मिटाना नहीं अर्थात् सत्य का काम असत्य को प्रकाशित करना है, नाश करना नहीं, किन्तु राम की लालसा काम को खाकर राम से मिला देती है, अर्थात् सत्य की लालसा असत्य से असंग करके सत्य से मिला देती है।

यदि कोई पूछे कि सत्य की अभिलाषा होने के बाद सत्य कितने दिनों में मिलता है? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्ण अभिलाषा होते ही मिल जाता है। इसमें विलम्ब का कोई कारण नहीं है।

भोगों की इच्छाओं ने राम की लालसा को ढक रखा है। भोगों का परिणाम क्या है?—पराधीनता, जडता और शक्तिहीनता। सभी जानते हैं कि पराधीनता, जडता और शक्तिहीनता दुःख है फिर भी उसकी इच्छा करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है।

मनुष्य रोता हुआ जन्मता है, यदि रोते हुए ही मरा तो मिला क्या? मनुष्य—शरीर से क्या लाभ उठाया? इस शरीर का महत्त्व तो तभी है जब हँसते हुए मृत्यु का स्वागत करें।

अतः साधक को चाहिये कि वर्तमान में ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये कमर कस ले अर्थात् तत्पर हो जाय। काम का अन्त और राम की प्राप्ति, यही उसका लक्ष्य है।

जो यह आशा करते हैं कि अगली साल फिर सत्संग करेंगे, उन्होंने सत्संग का महत्त्व नहीं समझा। सुनने के बाद यदि फिर भी सुनने की आशा रही तो सुनना सार्थक सिद्ध नहीं हुआ।

जीने की आशा ने मनुष्य के कर्तव्य को ढक रखा है। यह मनुष्य को कर्तव्यपरायण नहीं होने देती। जीने की निराशा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। जीने से निराश होते ही सच्चा वैराग्य हो जाता है,
फिर बेड़ा पार है।

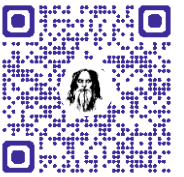

Video 1 | Challenge of Ramsukhdasji – Scan QR | Video 2

पारमार्थिक उन्नति इतनी सुगम सरलता से कि जिसमें भविष्य नहीं है और क्रिया और पदार्थ की जरूरत नहीं है। यह बात कहीं भी मिलती नहीं है। आप इतनों के सामने मैं कहता हूँ, किसी जगह मिली है तो आप बताओ। एक जगह (शरणानन्दजी से) ही मिलती है, दो जगह मिलती ही नहीं। इतनी बढ़िया बात इतनी सरल इतनी सुगम मैंने कहीं नहीं देखी है, कहीं सुनी नहीं है। किसी भाषा में देखी नहीं है, सुनी नहीं है। (प्रवचन 17-8-2001, 8:30 am)

शरणानन्दजी के सम्पूर्ण साहित्य की pdf के लिए scan 10 Volumes QR

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि सभी लाभ उठा सकें इसलिए अद्वितीय शरणानन्दजी की क्रान्तिकारी वाणी में *एक-देशीय साधना की चर्चा कभी नहीं की जाती है।

अद्वितीय शरणानन्दजी के प्रति बड़े सन्तों के मार्मिक विचार

1. गोविन्ददेव गिरिजी महाराज एवं गुरु सत्यमित्रानन्दजी– (19-07-2023 सायं)

शरणानन्दजी की बातें वेदव्यासजी का जूठन नहीं है । जहाँ से उपनिषद आये वहीं से शरणानन्दजी के वाक्य आते हैं। जीवनभर एक भी ग्रन्थ न पढने वाले ये महात्मा, जिनके एक-एक वाक्य पर ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

2.पथमेड़ा महाराजजी गौ-ऋषि दत्तशरणानन्दजी– (9-8-2023, 27-9-2023)

इतना सरल, स्पष्ट, सूत्रात्मक, साफ 'सत्य' शरणानन्दजी की वाणी से पूर्व किसी से प्रकट नहीं हुआ। कलियुगी जीवों के लिए आवश्यक यह वाणी है। देश और दुनिया की मानव जाति के उत्थान का अपूर्व सन्देश है। यह अनुपम वाणी सभी दर्शनों का सार भी है, सभी दर्शनों से श्रेष्ठ भी है।

3. स्वामी रामसुखदासजी महाराज –(MSS प्रवचन से तथा 5.5.2000, 16.00 hrs.)

शरणानन्दजी के समान मैं मानता नहीं हूँ किसी संतको। उन्होंने जो लिखा है, उसके आगे कुछ नहीं है। **उनकी बातें सब ग्रंथों का अन्तिम सार है।** उनकी पुस्तकें पढ़ने से बड़े-बड़े दार्शनिक, पंड़ितों में भी हलचल मच जायेगी। ऐसी विचित्र बातें बतायी हैं, जो आदमी के कान खुल जाये, आँख खुल जाये, होश आ जाये। **सत्य के अनुयायी बनें, व्यक्ति या सम्प्रदाय के नहीं।**

4. Dr. Satinder Dhiman (Ph. D., Ed.D. - U.S.A.)

All the darshans /philosophies of the world on one side, and Sharnanandji's darshan on one side. He is certainly the most **"Unique"** and **"Original"** of all thinkers and saints. If his ideas become truly known, it will certainly create a **"Revolution"** in the world !

5. स्वामीनारायण सन्त ज्ञानजीवनदासजी– (सागर कथा-15.3.2013)

स्वामी शरणानन्दजी का साहित्य पढ़ने जैसा है। जैसे बड़े-बड़े भारतीय ऋषि मुनि हो गये, आर्षद्रष्टा हो गये, वैसे वे आज के आर्षद्रष्टा ऋषि हैं। उनकी बातें **'सातवाँ दर्शन'** जैसी अद्भुत हैं।

6. स्वामी अनुभवानन्दजी सरस्वती– (व्यावहारिक गीता-5 से)

शरणानन्दजी का जीवन पढ़ो आप, उन्होंने कोई पढ़ाई नहीं की थी, वे प्रज्ञाचक्षु थे। उनके एक-एक जो अनुभव हैं, उसको आप **'पाँचवा वेद'** कह सकते हैं, इतने श्रेष्ठ अनुभव हैं।

7. स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती – (मोरारी बापू, मानस सुरधेनु, 20/11/2012)

मिलावट वाला वेदान्त सुनना है तो हमारे पास आओ और शुद्ध, विशुद्ध, दो टूक वेदान्त सुनना है तो स्वामी शरणानन्दजी के पास जाओ।

Videos of all above quotes are available on youtube a/c "Santo Ka Khazana"

For Books & Pravachans refer - www.swamisharnanandji.org

शरणानन्दजी केन्द्रित अनेक संतों की छोटी-छोटी दुर्लभ विडियो प्राप्ति हेतु youtube a/c "Santo Ka Khazana" के QR को Compulsary Scan करें।

एक महात्मा का प्रसाद

स्वामी शरणानन्दजी महाराज